इकाई–1 (क) भारतीय योग पद्धतियां एवं जीवन विज्ञान

पाठ–1 योग तथा पातंजल योग के अंग

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
2.0 भूमिका
3.0 भारतीय योग : परिचय
4.0 योग की शाखाएँ
5.0 पातंजल योग : अंग

1.0 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों स्नातक के प्रथम वर्ष के द्वितीय पत्र में आप 'जीवन विज्ञान की प्रविधि : प्रेक्षाध्यान' के अंतरगत भारतीय योग पद्धति तथा प्रेक्षाध्यान के विभिन्न अंगों के सैद्धान्तिक पक्ष का अध्ययन करेंगे। भारत में योग साधना की बहुत लम्बी परम्परा रही है। उसमें से सर्वाधिक चर्चित महर्षि पतंजलि का योग माना जाता है। इस इकाई में हम भारतीय योग पद्धतियों के संक्षिप्त परिचय के साथ पातंजल योग की भी जानकारी प्राप्त करेंगे। इस काव्य खण्ड में पतंजलि ने योगसिद्धि के आठ अंगों का निरूपण किया है। इसमें यम, नियम से लेकर समाधि तक के सोपान को स्पष्ट किया गया है। योगियों की भिन्न–भिन्न चित्त दशा के आधार पर उनके लिए समाधि पाद, साधन पाद, विभूति पाद तथा कैवल्यपाद को निरूपित किया गया है। अत: यह योग दर्शन वास्तव में व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध है।

प्रस्तुत पाठ में निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है—

1. भारतीय योग का परिचय प्राप्त हो सकेगा।
2. भारतीय योग साधना की प्रमुख शाखाओं का परिचय प्राप्त हो सकेगा।
3. पातंजल योग के आठ अंगों का परिचय प्राप्त हो सकेगा।

2.0 भूमिका

विश्व में अनेक धार्मिक परम्पराएँ है। प्रत्येक की अपनी–अपनी धारणाएँ और मान्यताएँ हैं परन्तु एक बात सामान्य रूप से सबके साथ जुड़ी हुई है। वह है साधना पद्धति। भारतीय वांगमय में योग साधना विषयक विचार अपने मूल रूप में अत्यन्त प्राचीन है। वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता, जैन आगम, बौद्ध धर्म पिटक, बाइबिल, कुरान आदि में वर्णित योग साधना विषयक सामग्री से योग–साधना की प्राचीनता एवं अति व्यापकता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। योग भारत का परम्परागत दर्शनशास्त्र है। यह भारतीय तत्त्व–ज्ञान व संस्कृति का आधार है। योग किसी जटिल और कृत्रिम अभ्यास का नाम ही नहीं वरन् योग जीवन की उस पद्धति या शैली का नाम है जो स्वाभाविक तथा प्रत्येक मनुष्य की होनी चाहिए।

मानव जीवन की दो पद्धतियां हैं—योग पद्धति तथा भोग पद्धति। योग जीवन पद्धति से मनुष्य निरोग, स्वस्थ, सुन्दर, पवित्र और सक्षम रहता हुआ जीवन पर्यन्त सुख और आनन्द में रहता है और देहावसान पर सद्गति को प्राप्त होता है। भोग जीवन पद्धति से मनुष्य रोगी, अस्वस्थ, निर्धन और अक्षम रहता हुआ जीवन भर दु:खी और क्लेशयुक्त रहता है। आज का मानव भोग जीवन पद्धति का अनुसरण कर अनेक बाह्य सुख–साधनों व प्रसाधनों की उपलब्धि के उपरांत भी आंतरिक सुख एवं प्रसन्नता से वंचित है। इसीलिए वह दु:ख, अभाव व तनाव में जी रहा है। अत: इन समस्याओं का समाधान योग पद्धति में निहित है। यदि इस योग पद्धति को अपनाया जाए तो उपरोक्त समस्याएँ पैदा ही न होगी। यह योग पद्धति पुरातन काल से चली आ रही है। आत्मदर्शन व समाधि से लेकर कर्म क्षेत्र तक योग शब्द का व्यापक संदर्भ में उपयोग होता रहा है। स्कन्ध पुराण में लिखा है—

भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम्।

अर्थात संसार के दु:खों से संतप्त (दु:खी) प्राणियों के लिए योग ही सर्वश्रेष्ठ औषधि है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कठोपनिषद् में आया है कि धीर पुरुष योग के द्वारा स्वयं आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार कर हर्ष, शोक रूप प्रपंच को त्याग देता है। इनके अलावा अनेक ग्रंथों जैसे रामायण, महाभारत, तंत्रशास्त्र, गीता, स्मृतियां, ज्योतिष शास्त्र इत्यादि कुछ भी योग से अनछुआ नहीं है। वास्तव में योग का अर्थ स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाना है, बिखरे हुए मन को समेटकर अंतर्मुखी (भीतर की ओर) करना है।

प्राचीनता की दृष्टि से देखें तो जैन परम्परा की साधना पद्धति का नाम 'योग' नहीं है। उसका नाम मोक्ष मार्ग है पर जैन-परम्परा में योग शब्द भी मिलता है। जैन आगम साहित्य में ध्यान-योग, समाधि-योग और भावना-योग इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। योग को जितना व्यवस्थित रूप महर्षि पतंजलि ने दिया, उतना संभवत: पहले के साहित्य में उपलब्ध नहीं है।

3.0 भारतीय योग : एक परिचय

भारतीय योग को समझने के लिए इसके परिचय को जानना आावश्यक होगा—

3.1 अर्थ

'योग' शब्द 'युज समाधौ' आत्मनेपदी दिवादिगणीय धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। इस प्रकार 'योग' शब्द का अर्थ हुआ—समाधि अर्थात् चित्त वृत्तियों का निरोध। वैसे 'योग' शब्द 'युजिर योग' तथा 'युज संयमने' धातु से भी निष्पन्न होता है किन्तु तब इस स्थिति में योग शब्द का अर्थ क्रमश: योगफल, जोड़ तथा नियमन होगा। आगे योग में हम देखेंगे कि आत्मा और परमात्मा के विषय में भी योग कहा गया है।

3.2 परिभाषा

(i) पातंजल योगदर्शन के अनुसार—**'योगश्चित्तवृत्ति निरोध:' (1/2)** अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है।

(ii) सांख्य दर्शन के अनुसार—**पु. प्रकृत्योर्वियोगेपि योगइत्यमिधीयते।** अर्थात् पुरुष एवं प्रकृति के पार्थक्य को स्थापित कर पुरुष का स्व स्वरूप में अवस्थित होना ही योग है।

(iii) विष्णु पुराण के अनुसार—**योग: संयोग इत्युक्त: जीवात्म परमात्मने।** अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा का पूर्णतया मिलन ही योग है।

(iv) भगवतद्गीता के अनुसार—**सिद्द्ध्यसिद्द्ध्यो समोभूत्वा समत्वंयोग उच्चते**। (2/48) अर्थात् दु:ख-सुख, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, शीत और उष्ण आदि द्वन्दों में सर्वत्र समभाव रखना योग है।

(v) भगवद्गीता के अनुसार—**तस्माद्द्योगाययुज्यस्व योग: कर्मसु कौशलम्**। अर्थात् कर्त्तव्य कर्म बन्धक न हो, इसलिए निष्काम भावना से अनुप्रेरित होकर कर्त्तव्य करने का कौशल योग है।

(vi) आचार्य हरिभद्र के अनुसार—**मोक्खेण जोयणाओ सव्वो वि धम्म ववहारो जोगो।** मोक्ष से जोड़ने वाले सभी व्यवहार योग है।

(vii) बौद्ध धर्म के अनुसार—**कुशल चितैकग्गता योग:।** अर्थात् कुशल चित्त की एकाग्रता योग हैं।

3.3 योग की शाखाएँ

भारतीय योग के कई शाखाएँ हैं, लेकिन मुख्य निम्न हैं—

(i) ज्ञान योग	(ii) भक्ति योग	(iii) कर्म योग	(iv) राज योग
(v) मंत्र योग	(vi) लय योग	(vii) हठ योग	

3.3.1 ज्ञानयोग

केवल भौतिक पदार्थों को जानना अर्थात् सांसारिक ज्ञान-विज्ञान मात्र ही ज्ञान योग नहीं है वरन् शरीर, मन, इंद्रिय, अहंकार व चित्त से परे शुद्ध परमात्म को जान लेना ही ज्ञानयोग है। ज्ञानयोग को सांख्ययोग भी कहा जाता है। ज्ञान शब्द का अर्थ है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बुद्धि। ज्ञानयोग आध्यात्मिक ज्ञान का मार्ग है। इसके द्वारा व्यक्ति अविद्या, मिथ्यात्व व अज्ञान से मुक्त होकर विशुद्ध चेतना का बोध करता है। ज्ञानयोग में 25 तत्त्वों को निरूपित किया गया है तथा यह कहा गया है कि इन्हीं तत्त्वों से सृष्टि की रचना हुई है। अत: परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए इन तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है। यह योग ब्रह्मसंरचना को बताता है। ज्ञानयोग के 25 तत्त्व हैं—प्रकृति, पुरुष, महत् (बुद्धि), अहंकार, मनस् (मन), इंद्रियां (पांच ज्ञानेन्द्रिया तथा पांच कर्मेन्द्रिया), पंच तंमात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध), तथा पंचभूत (आकाश, वायु, तेज, पृथ्वी और जल)। पुरुष तथा प्रकृति में कोई आपसी संबंध नहीं है परंतु ये समानांतर चलते हैं—इस तथ्य को जान लेना ही वास्तविक ज्ञान योग है। इस योग के प्रमुख साधन हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। ज्ञानयोग का मार्ग निवृत्ति मार्ग है। निष्काम कर्म को समझने के लिए ज्ञानयोग बहुत आवश्यक है।

सीमाएँ—

1. यह योग ऐसा योग है जिसमें जिज्ञासु ही आगे बढ़ सकते हैं।

2. ज्ञानयोग में लीन व्यक्ति समाज के संपर्क में नहीं रह पाता है। स्वानुभूति के अभाव में ज्ञान योग अहंकार भी उत्पन्न कर देता है।

3. साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति के लिए ज्ञानयोग सरल एवं सहज नहीं है।

समाधान—

1. ज्ञानयोग की सीमाओं को विस्तृत करने के हेतु सत्य के प्रति समर्पण व अनेकांत की साधना आवश्यक है।

2. शारीरिक स्वास्थ्य हेतु हठयोग एवं सामाजिक विकास हेतु कर्मयोग भी आवश्यक है।

3.3.2 भक्तियोग

कर्मयोग की उच्च अवस्था भक्तियोग है। भक्तियोग में प्रत्येक क्रिया ईश्वर को समर्पित होकर की जाती है। जब प्रत्येक कार्य ईश्वर को समर्पित होते हैं तो बुरे कार्य न करने की प्रवृत्ति साधक में आ जाती है। नारद जी ने भक्तिसूत्र में कहा है कि भगवान के प्रति उत्कट प्रेम ही भक्ति है। स्वामी विवेकानंद निष्कपट भाव से ईश्वर की भक्ति को भक्तियोग कहते हैं। इस योग का आंरभ, मध्य और अंत प्रेम में होता है। भक्तियोग की उच्च अवस्था को 'परा अवस्था' कहा जाता है। भक्ति मार्ग में ऊंच-नीच, जाति, धर्म, क्षेत्र आदि का भेदभाव मिट जाता है। भक्ति स्वयं ही साधन और साध्य स्वरूप है। अत: इस योग के द्वारा भक्त अपनी आध्यात्मिक मार्ग की साधना का सुखद अनुभव कर सकता है।

सीमाएँ—

भक्ति योग करते-करते इससे पुरुषार्थहीनता व अकर्मण्यता पैदा होती है।

समाधान—

इसकी सीमाओं को विस्तृत करने के लिए अनासक्त पुरुषार्थ, संयम, तप, त्याग आदि का सलक्ष्य अभ्यास आवश्यक है।

3.3.3 कर्मयोग

कोल्हू के बैल की तरह कर्म करते रहना मात्र ही कर्मयोग नहीं है वरन् शरीर, इंद्रिय, धन, संपत्ति आदि से संबंद्ध कर्तव्यरूप सारे कर्मों तथा उनके फलों को ईश्वर को समर्पण करते हुए अनासक्त निष्काम भाव से व्यवहार करना ही कर्मयोग है। सब कुछ करते हुए परम तत्त्व के प्रति जागरूक और समर्पित रहना है। कर्मयोग किसी विशिष्ट लक्ष्य को आगे बढ़ता है तथा कर्म ही धीरे-धीरे योग का रूप धारण कर लेता है। यही पुन: ज्ञानयोग एवं भक्तियोग में वृद्धिंगत होकर निर्विकल्प समाधि तक पहुंच जाता है। कर्म शब्द का अर्थ कार्य होता है। यह 'कृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है करना। अर्थात् जो कुछ किया जाए वह कर्म है। गीता में कहा गया है कि शरीर, मन और इंद्रियों द्वारा की जाने वाली प्रत्येक चेष्टा या हलचल कर्म है। कोई भी साधारण क्रिया कामना सें कर्म, अनिष्ट की भावना से विकर्म तथा कामना रहित होने से अकर्म अथवा निष्काम कर्म बन जाता है। देहधारियों के लिए समस्त कर्मों का त्याग असंभव है। अत: कर्मयोग में ऐसी युक्ति है कि शरीर की यात्रा भी चलती रहे और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसके निमित्त से किए गए कर्मों का बंधन भी न हो। कर्म करने की इसी कुशलता का नाम निष्काम कर्मयोग है। इस योग में केवल विहित कर्म करने का ही प्रावधान है निषिद्ध कर्म का नहीं। कर्मयोगी के लिए आवश्यक है कि वह निरंतर क्रियाशील रहे साथ ही प्रत्येक क्रिया के साथ शांति का अनुभव करे। कर्मयोग का कोई भी कार्य महज कर्तव्य रूप होता है क्योंकि वह निष्काम भाव से होता है। इस योग की यह विशेषता है कि वह गृहस्थ के लिए उत्तम है। इसके द्वारा परम तत्त्व की प्राप्ति हो सकती है। यह मार्ग सरल एवं सुगम है। किसी भी जाति, धर्म, संप्रदाय आदि का कोई संबंध भी नहीं होता है। निष्काम कर्म करने के लिए दंड का भय भी नहीं होता है।

सीमाएँ —

1. कर्म करते-करते अहंकार की भावना पैदा होने लगती है।

2. प्रतिफल की इच्छा होने लगती है।

कर्मयोग की सीमाओं को विस्तृत करने के लिए निम्न बातें आवश्यक हैं — फलेच्छा एवं आसक्ति का अभाव, ऋणमुक्ति, सेवाभाव समत्त्वभाव, सर्वत्र समान व्यवहार, काम्य संकल्पों का त्याग एवं शरणांगति भाव आदि।

3.3.4 राजयोग

सर्वयोगों से राजयोग को उत्तमकोटि का योग स्वीकार किया गया है लेकिन इसके स्वरूप के बारे में कुछ विद्वानों में मतभेद है। योग शिखोपनिषद् में रजस् तथा रेतस् के संयोग को राजयोग कहा गया है — **रजसोरेहतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः।** कुछ योगाचार्यों ने मन को इन्द्रियों का स्वामी मानते हुए मन के योग अर्थात मनोविजय को राजयोग माना है। वस्तुतः व्यावहारिक दृष्टि से पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योग विज्ञान ही राजयोग है। वैसे महात्मा पतंजलि ने राजयोग शब्द का प्रयोग कहीं पर भी नहीं किया है। स्वामी विवेकानन्द ने पातंजल योगशास्त्र को राजयोग के रूप में स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान किया है।

पतंजलि का राजयोग वस्तुतः चित्तवृत्ति निरोधमूलक है जिसे अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। राजयोग के आठ अंग हैं — यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इसमें यम के पांच उपअंग हैं — अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम के भी पांच उपअंग या भाग हैं — शौच (शुद्धि), संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्राणिधान। आसन के द्वारा शरीर को संतुलित करते हैं। प्राणायाम के द्वारा प्राण का संयम करते हैं। प्रत्याहार में मन की विषयाभिमुखी गति को अन्तर्मुखी करते हैं। धारणा में किसी एक स्थान पर मन को धारणा करते हैं। ध्यान अर्थात जब धारणाभ्यासी देश-विशेष में मन को लगाते हुए मन को ध्येय विषय पर स्थिर करना है। समाधि अर्थात मन का आत्मा के साथ एकाकार हो जाना है। जीवात्मा तथा परमात्मा के संयोग को भी समाधि कहते हैं। ध्यान का अभ्यास करते-करते जब स्वरूप शून्यता का प्रादुर्भाव हो जाता है तब समाधि सिद्धि हो जाती है।

3.3.5 मंत्रयोग

परम शिव प्रोक्त तंत्र आगमों की प्रारम्भिक स्थूल साधना का नाम मंत्रयोग है। तंत्रों में मंत्रों का विस्तृत विवेचन मिलता है। नारद, पुलस्त्य, गर्ग, बाल्मीकि आदि मंत्रयोग के आचार्य हुए हैं। **मननात् त्रायते इति यस्मात्तस्मान्मंत्रः प्रकीर्तितः।** अर्थात् 'म' से मनन, 'त्र' कार से रक्षण। इस प्रकार जिन विचारों के मनन से रक्षा हो, उसे मंत्र कहा जाता है। वैसे मंत्र का मूल अर्थ है गुप्त बोलना। मंत्र ध्वनि के विभिन्न समूह होते हैं। ये ध्वनि विज्ञान पर आधारित होते हैं। जब हम बोलते हैं तब भिन्न-भिन्न वर्णों के रूप में अनेक ध्वनियां हमारे मुंह से निकलती हैं। ऐसे ही कुछ विशिष्ट वर्णों को जो क्रम से संग्रहीत होते हैं, उच्चारण करना मंत्र कहलाता है। लगातार मंत्र उच्चारण करते रहने से वातावरण में उन ध्वनि तंरगों का विशेष प्रभाव उत्पन्न होता है। उसी को मंत्र का परिणाम कहते हैं। मंत्र की तीन जातियां होती हैं — पुरुष, स्त्री तथा नपुंसक। एक अक्षर वाले मंत्र को 'पिंड', दो अक्षर वाले मंत्र को 'कर्तरी', तीन से नौ अक्षर वाले को मंत्र को 'बीजमंत्र', दस से बीस अक्षर वाले मंत्र को 'मंत्र' तथा इससे अधिक अक्षरों वाले मंत्रों को 'माला' कहा जाता है।

मंत्रयोग का सिद्धांत है कि परमात्मा से भाव, भाव से नामरूप और उसका विकार तथा विलासमय यह संसार है। अतः मुक्ति के लिए सृष्टि के विपरीत मार्ग से यात्रा करनी आवश्यक है। अर्थात् **नामरूप से भाव, भाव से भावग्राही परमात्मा में चित्त का लय होने से मुक्ति होगी।** सगुण से निर्गुण, साकार से निराकार तक की यात्रा और अनुभूति ही इसका लक्ष्य है।

Jan Vishve Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अत: इसके आचार्यों ने नाम और रूप के अवलंबन की साधना की जो विधि बताइ है, वही मंत्रयोग है। नाम रूप का विषय जीव को बंधनमुक्त रखते हैं। अर्थात् इस प्रकृति के जीव अविद्याग्रस्त रहते हैं। अत: अपनी-अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति की गति के अनुसार नाममय शब्द तथा भावमय रूप के अवलंबन की साधना मंत्रयोग में है। मंत्रयोग का विस्तार और महिमा सर्वाधिक है। मंत्रयोग भावपूर्ण स्थूल साधना की विधि है।

सीमाएँ—

मंत्रयोग का उपयोग शक्ति साधना हेतु अधिक किया जाता है। इसकी सीमा को विस्तृत करने हेतु सत्य के प्रति समर्पण योग्य गुरु का अनुशासन एवं गोपनीयता आवश्यक है।

3.3.6 लय योग या कुण्डली योग

कुछ विद्वान लय योग को तंत्र योग का ही एक पक्ष मानते हैं तथा कुण्डलिनी योग को लययोग के अन्तर्गत एक योग मानते हैं। वर्तमान में लययोग ही कुण्डलिनी योग के रूप में देखा जाता है। कुण्डलिनी योग के अनुसार ज्ञान खण्ड का मूल केन्द्र सहस्त्रार चक्र है और कर्मकाण्ड का मूल केन्द्र मूलाधार चक्र है। पहले चक्र में शिव का वास है तथा दूसरे चक्र में शक्ति का वास है। इस योग के अनुसार मूलाधार चक्र में बाल से पतला सर्प कुण्डलिनी की तरह घूमा हुआ गोलाकार एक नाड़ीतंतु है। इसी तंतु में शक्ति प्रसुप्त (सोई हुई) अवस्था में विद्यमान है। मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्र की प्रवृत्तियां भौतिक तथा स्वार्थपूर्ण होती है। अनाहत चक्र की वृत्ति मिश्रित स्वभाव की होती है। इसके ऊपर के चक्र अच्छे गुणों से सम्पन्न होते हैं। सहस्रार चक्र में शक्ति के स्थैतिक (स्थिर) तथा गतिक (चलायमान) रूप आपस में मिल जाते हैं। इस चक्र पर शांत बुद्धि या यों कह सकते हैं कि परम बुद्धि का आभास होता है।

सर्पाकार शक्ति को जब व्यक्ति जागृत कर लेता है तब उसके गुणों में वृद्धि हो जाती है। साधारणतया इड़ा एवं पिंगला नाड़ियां शरीर में प्राण का संचार करती हैं। इड़ा का संबंध बांये नासारन्ध्र से होता है। इड़ा को चन्द्रनाड़ी तथा पिंगला को सूर्यनाड़ी भी कहते हैं। ये दोनों मूलाधार चक्र से जुड़ी होती हैं तथा ऊपर बढ़ती हुई सुषुम्ना को चारों ओर से लपेट लेती हैं। ये ऊपर जाकर आज्ञाचक्र में मिल जाती हैं। यहां ये दोनों पुन: अलग-अलग होकर अपने नासारन्ध्र से संबंध स्थापित कर लेती हैं। सुषुम्ना नाड़ी मूलाधर चक्र से प्रारंभ होती है तथा सिर के मूल भाग में स्थित अरन्ध्र तक विद्यमान रहती है। सुषुम्ना की अंत:कला होती हैं। इसी के द्वारा कुण्डलिनी जागृत होकर ऊपर बढ़ती है। सामान्यतया सुषुम्ना बंद रहती है तथा सर्पाकार रूप में मूलाधार पर स्थित रहती है। सुषुम्ना नाड़ी जब खुलती है तब इड़ा पिंगला के कार्य होते चले जाते हैं तथा दोनों नासारन्ध्रों से श्वसन कार्य प्रारम्भ हो जाता है। जागृत कुण्डलिनी सहस्रार चक्र पर पहुंचकर जीव को ब्रह्म से मिला देती है। कुण्डलिनी योग के चार चरण हैं। **प्रथम चरण में शक्ति का जागरण, द्वितीय में कुण्डलिनी शक्ति का उत्थान, तृतीय में चक्रों का क्रमश: भेदन किया जाता है तथा चतुर्थ चरण में सहस्रार चक्र में स्थित शिव से शक्ति का महामिलन होता है।**

सीमाएँ—

यह जटिल प्रक्रिया है। खतरनाक भी है। थोड़ी-सी असावधानी से नुकसान हो सकता है।

समाधान—

स्वानुभवी और योग्य साधक गुरु के निर्देशन में ही इसका अभ्यास करना चाहिए।

3.3.7 हठयोग

हठयोग का उद्देश्य राजयोग में प्रवेश में है। शरीर को साधे बिना साधना की विशेष भूमिकाओं का अभ्यास भी संभव नहीं है। हठयोग प्रारंभ में शरीर को साधने पर अधिक बल देता है। इस योग में 'ह' अर्थात् सूर्य तथा 'ठ' अर्थात् चंद्रस्वर को साधने की क्रिया की जाती है। सूर्य स्वर दांए नासिका से तथा चंदस्वर बांए नासिका से बहने वाली प्राणधारा है। अत: सूर्य और चंद्र के योग को हठयोग कहा गया है। एक व्याख्या के अनुसार सूर्य प्राणवायु तथा चंद्र अपान वायु है। प्राणायाम के द्वारा दोनों वायु का निरोध हठयोग में किया जाता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार इड़ा तथा पिंगला से सुषुम्ना में प्राणवायु का संचार हठयोग में किया जाता है। हठयोग के प्रमुख आचार्य महर्षि मारकण्डेय, भारद्वाज, मरीचि तथा जैमिनी आदि हैं। हठयोग से सात अंग हैं—षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रात्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि। स्थूल शरीर के अधिक अवलंबन से चित्त वृत्ति निरोध करने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हेतु योगासन की प्रणाली हठयोग में चलाई जाती है। **ज्योति कल्पना** रूप ध्यान की विधि भी है। अर्थात् परमात्मा का सब ज्योतियों का ज्योति स्वरूप जानकार उसके ज्योतिर्मय रूप की कल्पना करके ध्यान के अभ्यास की व्यवस्था हठयोग में है। वायु निरोध के द्वारा मन का निरोध कर अंत में समाधि लाभ करने की विधि हठयोग में है। हठयोग की समाधि को **'महाबोधि'** समाधि कहा गया है।

सीमाएँ—

केवल आसन, प्राणायाम तक ही सीमित रहने से आत्मिक ज्ञान नहीं हो सकता। अत: इसकी सीमा को विस्तृत करने के लिए सभी अंगों का अभ्यास आवश्यक है। इससे साधक राजयोग में प्रवेश कर सकेगा।

बोध-प्रश्न

1. जैन साधना-पद्धति का क्या नाम है?
2. ज्ञान-योग क्या है?
3. मंत्र-योग किसे कहते हैं?
4. राजयोग क्या है?
5. हठ-योग की समाधि को क्या कहते हैं?

4.0 पातंजल योग : अंग

पतंजलि का योग उनके प्रसिद्ध ग्रंथ पातंजल योगसूत्र में मिलता है। योग के क्षेत्र में 200 ईसा पूर्व महर्षि पतंजलि द्वारा रचित ग्रंथ 'योगसूत्र' व्यवस्थित, तार्किक, दार्शनिक, सूत्रबद्ध एवं संक्षिप्त सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। वैसे इससे पूर्व के ग्रन्थों में भी योग का विशद वर्णन मिलता है लेकिन समय समय पर युगानुरूप प्रस्तुत करने की आवश्यकता रहती है। महर्षि पतंजलि ने प्राचीन विशाल योग को युगानुरूप संक्षिप्त शब्दों में सूत्रबद्ध कर सागर को गागर में समेट दिया। आपने योग सूत्र को चार अंगों में बांटा है—

1. समाधि पाद
2. साधन पाद
3. विभूति पाद
4. कैवल्य पाद।

समाधि पाद में 51 सूत्र हैं जिनमें योग के लक्षण और स्वरूप का वर्णन किया है। द्वितीय साधन पाद में 55 सूत्र हैं। इसमें दु:ख के कारण तथा निवारण के उपाय बताए गये हैं। तृतीय विभूति पाद में 55 सूत्र हैं। इस भाग में धारणा, ध्यान, समाधि, संयम और उनसे होने वाली सिद्धियों का वर्णन है। अंतिम कैवल्य पाद में 34 सूत्र हैं। इस भाग में चित्त के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार पातंजल योग सूत्र में कुल 195 सूत्र हैं। पतंजलि द्वारा उद्घाटित चित्तवृत्ति-निरोध रूप योग भी समाधि अर्थक ही है—**योग: समाधि: स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्म:।** सारांशत: योग के तीन अर्थ निकलते हैं—

1. संयोग या मेल
2. ध्यान या समाधि
3. उपाय, साधन या मार्ग।

इन तीनों की साधना एवं फलश्रुति के लिए महर्षि पजंजलि ने अष्टांग योग की परिकल्पना प्रस्तुत की। योग के आठ अंग हैं—

"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान समाधयोऽष्टावंगानि"। (पा. सू. 2/21)

1. यम 2. नियम 3. आसन 4. प्राणायाम 5. प्रत्याहार 6. धारणा 7. ध्यान 8. समाधि।

प्रथम दो अंग यम और नियम राग-द्वेष से पैदा होने वाले उद्वेगों को संयमित करते हैं और योगी को कल्याणकारी सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठित करते हैं। आसन से योगी का शरीर स्वस्थ और सुदृढ़ होता है जिससे वह प्रकृति के साथ हमकदम होकर चल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सकता है। इससे शरीर के प्रति ममत्व क्रमशः घटता जाता है और योगी इसे आत्मा का आधार मात्र मानने लगता है। अगली दो सीढ़ियों-प्राणायाम और प्रत्याहार के द्वारा योगी श्वास-प्रश्वास का संयम करता है और इन्द्रियों को उनके विषयों से दूर कर इन्द्रिय संयम करता है। अंतिम तीन अंग योगी की आत्मा की गहराई में ले जाने के पश्चात् अब हम इन आठ अंगों पर विस्तार से चर्चा करने जा रहे हैं—

4.1 यम

यम प्रथम सोपान है। इसका अर्थ है—संयम या नियंत्रण। योग सूत्र के अनुसार—

अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः (पा.सू. 2/30)

अर्थात् अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का आचरण यम है। इस प्रकार के नैतिक आचरण से व्यक्ति और समाज का कल्याण होता है, सामाजिक जीवन में सुख-शांति रहती है। इसके विपरीत हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार और परिग्रह की वृत्ति, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह आदि दुर्भावनाओं से उद्भूत होती है। अहिंसादि के आचरण से ये दुर्भावनाएँ क्रमशः क्षीण होती है और साधक का मन शुद्ध से शुद्धतर होता जाता है और उसकी इन्द्रियां वश में हो जाती है। घृणा की भावना का बहिष्कार भी अहिंसा का ही अंग है। महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को ही अपने दर्शन का आधार बनाया। उनके सर्वोदय तथा सत्याग्रह के मार्ग में सत्य और अहिंसा महत्वपूर्ण हैं। अहिंसा परोक्ष रूप से सत्य का निदेशक है। सत्य अत्यन्त महत्वपूर्ण यम है क्योंकि सत्य पर ही अन्य यम तथा नियमों का पालन निर्भर है। सत्य का सदाचार सर्वोपरि स्थान है। महात्मा गांधी ने सत्य पर विशेष बल दिया और सत्य को ही अपनी कार्य-पद्धति का आधार बनाया। व्यक्ति या समाज सत्याग्रह के माध्यम से सर्वोदय के पथ पर अग्रसर हो सकता है। अस्तेय का तात्पर्य है दूसरे के धन, वस्तु या विचारों का अपने हित में प्रयोग की प्रवृत्ति से विरत होना। अस्तेय से व्यक्तिगत चित्तशुद्धि के अतिरिक्त व्यापक सामाजिक तनाव भी कम होता है। ब्रह्मचर्य स्वधर्म से विचलित न होने में सहायक है। यह मात्र मैथुन कर्म से विरत होना ही नहीं है अपितु ब्रह्मचर्य साधक के मानव शरीर की शुद्धि के साथ-साथ उसे मानसिक तथा शारीरिक दृष्टि से सबल रखता है ताकि साधनाके पथ पर वह कुशलता से अग्रसर हो सकें। इस प्रकार अपने स्वार्थ के लिए ममतापूर्वक धन, सम्पत्ति और योग-सामग्री का संचय करना 'परिग्रह' है और इसके अभाव का नाम 'अपरिग्रह' है ये पांच यम जाति, देश, काल और निमित्त की सीमा में अणुव्रत और सीमा से रहित सार्वभौम होने पर महाव्रत हो जाते हैं। अर्थात् जब इन यमों का पालन सार्वभौम अर्थात सबके साथ, सब जगह और सब समय समान भाव से किया जाता है तब ये महाव्रत हो जाते हैं।

पातंजल सूत्र के दूसरे अध्याय में इन महाव्रतों को श्लोकों में प्रस्तुत किया गया है—

1. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः (पा.सू. 2/35) अर्थात् अहिंसा प्रतिष्ठित होने पर सभी प्राणी उस व्यक्ति के सभी वैर त्याग देते हैं। अर्थात् जिस व्यक्ति में अहिंसा का भाव प्रतिष्ठित हो जाता है उसका किसी के प्रति वैरभाव नहीं रह जाता है। साथ ही दूसरे प्राणी भी उसके साथ किसी भी प्रकार का वैरभाव न रखते हुए मैत्री का भाव रखते हैं। अर्थात् दोनों ओर से मैत्रीभाव स्थापित हो जाता है। कहीं भी एक-दूसरे के प्रति भय का वातावरण नहीं रह जाता है। अहिंसा अभय है। अतः अभय से मैत्री का विकास होता है।

2. सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् (पा.सू. 2/36) अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा हो जाने पर वचन सिद्धि हो जाती है।

3. आस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् (पा.सू. 2/33) अर्थात् अस्तेय अर्थात् अचौर्य भाव प्रतिष्ठित हो जाने पर सभी रत्न उसके समीप होते हैं। कहने का तात्पर्य है कि जिस व्यक्ति में अस्तेय का भाव प्रतिष्ठित हो जाता है, उसके लिए रत्न भी दुर्लभ नहीं होते हैं। कहा जाता है तब पृथ्वी भी अपने रत्नों के द्वारा उस व्यक्ति के खोल देती है।

4. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः (पा.सू. 2/38) ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा हो जाने पर वीर्य लाभ की प्राप्ति होती है। अर्थात् शरीर में ऊर्जा की वृद्धि होकर तेज बढ़ता है।

5. अपरिग्रहस्थर्येजन्मकथन्तासम्बोधः (पा.सू. 2/39) अपरिग्रह की प्रतिष्ठा हो जाने पर व्यक्ति को अपने जन्मों का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् व्यक्ति अपने पूर्व जन्मों के बारे में जान सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.2. नियम

जहां यम व्यक्ति के सामाजिक आचरण की शुद्धता को लक्ष्य करता है वहां नियम उसके व्यक्तिगत आचरण की शुद्धता को लक्ष्य करता है। महर्षि पातंजलि ने पांच नियम बताए हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधाम। कहा गया है। **शौच संतोषतपः स्वाध्यायेष्वरप्रणिधामानि नियमः।** इनमें से शौच प्रथम नियम है। शौच का तात्पर्य है जीवन के शारीरिक या मानसिक क्रिया कलाप के प्रत्येक क्षेत्र में शुद्धता का अभ्यास। शरीर, वस्त्र और आवास आदि के मल को दूर करना बाह्य शुद्धि है। वर्णाश्रम और योग्यतानुसार प्रमाणपूर्वक अन्न, धन आदि पवित्र वस्तुओं को प्राप्त कर शुद्ध भोजनादि करना तथा सबके साथ यथायोग्य पवित्र व्यवहार करना भी बाह्य शुद्धि ही है। जप, तप और शुद्ध विचारों द्वारा तथा मैत्री आदि की भावना से अन्तः करण के राग-द्वेषादि मलों का नाम करना आभ्यन्तर शौच है।

शौच के बाद संतोष दूसरा नियम है। कर्त्तव्य कर्म का पालन करते हुए उसका जो परिणाम हो तथा प्रारब्ध के अनुसार स्वयं जो कुछ प्राप्त हो तथा जिस परिस्थिति में रहना पड़े, उसी से सन्तुष्ट रहना और अन्य किसी प्रकार की कामना न करना संतोष है।

तप द्वारा शरीर, मन और वचन का विशेष प्रकार से संयम किया जाता है। निराहार रहना, निश्चय रहना, प्राणवायु का नियमन, गरम शिला पर लेटना इत्यादि तप के ही प्रकार हैं। तप में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कष्ट झेलना पड़ता है। जैसे स्वर्ण का शोधन करने के लिए उसे आग में तपाया जाता है वैसे ही तप से मानसिक और शारीरिक अशुद्धियाँ दूर हो जाती है और शरीर तथा इन्द्रियों की क्षमता चामत्कारिक रूप से बढ़ जाती है।

स्वाध्याय शब्द 'स्व' और 'अध्याय' की संधि से बना है। इसका अर्थ 'स्व' का अथवा अपने आपका, अपनी अंतरात्मा का, अपने मन और इन्द्रियों का अध्ययन करना, उनकी चेष्टाओं की अनुप्रेक्षा करना, बार-बार चिन्तन करना। इससे अपने आप के साथ-साथ एक साधक का बाहरी वस्तुओं एवं घटनाओं से जो सम्बन्ध होता है उसका उसे अनुभव हो जाता है, उसमें सहज ज्ञान का प्रस्फोटन होने लगता है। इसके अलावा आदर्श साहित्य, नैतिकता प्रधान साहित्य आदि का अध्ययन भी स्वाध्याय है। इनको पढ़ने से जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है वह प्रत्यक्षतः या अनुमानतः ग्रहण नहीं किया जा सकता। यह तो अनुभव के स्तर का ज्ञान है। पातंजल सूत्र में आया है स्वाध्याय से इष्ट देवता के साथ तादात्म्य स्थापित होता है—**स्वाध्यायादिष्टदेवता सम्प्रयोगः (पा.सू.2/44)**

ईश्वर प्राणिधान इस शब्द का अर्थ है ईश्वर की विशेष भक्ति, ईश्वर के प्रति शरणागति। इस अवस्था में योगी अपने सारे कर्मों को सारे भावों को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता है। ईश्वर से पृथक उसकी कोई वैयक्तिकता नहीं रहती। ईश्वर से अलग उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। इससे सहज ही उसे समाधि की सिद्धि हो जाती है। कहा गया है—**समाधि सिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् (पा.सू.2/45)**

4.3 आसन

पतंजलि के अष्टांग योग में यम तथा नियम के बाद तीसरा स्थान आसन का है। आसन का विस्तारपूर्वक वर्णन हठयोग के ग्रंथों में मिलता है। उपनिषदों में आसन का उल्लेख अवश्य है परन्तु उनका विस्तार प्राप्त नहीं होता है। अमृतनादोपनिषद् तथा श्वेताश्वतरोपनिषद में आसन का उल्लेख मात्र है। मण्डल-ब्राह्मणोपनिषद् में चिरकाल तक सुखपूर्वक बैठने के विधि को आसन कहा गया है। तेजोबिन्दूपनिषद् में भी इसी प्रकार की परिभाषा दी गयी है। ये औपनिषदिक परिभाषाएँ पातंजल सम्मत **'स्थिरसुखं आसनम्'** परिभाषा के समान हैं। शरीर को स्थिर और सुख देने वाली अवस्था में रखने का नाम आसन है। यह शरीर को एक विशेष स्थिति में रखता है जिसमें साधक का शरीर अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त हेतु कुछ समय तक स्थिर रहे और उसे किसी शारीरिक तनाव आदि का भी अनुभव न हो। योगासनों का नामकरण विभिन्न पशुओं पक्षियों पर रखा गया है क्योंकि योगासन करते समय आसन-विशेष की अंतिम अवस्था पशु विशेष की आकृति से साम्यता रखती है। यथा—शलभासन, कूर्मासन, भुजंगासन, मयूरासन, उष्ट्रासन, सिंहासन आदि।

हठयोग के योगासन में शरीर को विभिन्न प्रकार की स्थितियों में इस प्रकार से रखते हैं जिससे शरीर के प्राणायतन अंगों तथा अन्तःस्रावी ग्रंथियों की क्रिया पूर्व की अपेक्षा भलीभांति होकर शरीर तथा मन को स्वस्थ बना सके। वास्तव में योगासन एक ऐसा सरल तथा सुगम मार्ग है जिसके द्वारा शारीरिक एवं मानसिक विकास, वृद्धावस्था तथा व्याधि-निवारण में वांछनीय प्रभाव

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

को प्राप्त किया जा सकता है। इन आसनों का अभ्यास दैनिक जीवन में बिना किसी आसक्ति के प्रत्येक प्रकार की वय, लिंग, स्थान, जलवायु आदि में किया जा सकता है। आसन, जिनका अभ्यास योग में किया जाता है, केवल भौतिक शरीर-संवर्धन मात्र नहीं हैं अपितु विभिन्न प्रकार के मार्ग हैं जिनसे शारीरिक तथा मानसिक विश्रान्ति (शांति) भी प्राप्त होती है। इसी कारण से आधुनिक समाज में आसनों का अभ्यास दैनिक जीवन के तनाव को कम करने के लिए किया जाता है। यद्यपि योगी को शरीर के प्रति मोह नहीं होता है फिर भी अंतरात्मा का निवास होने के कारण शरीर का वह सम्मान करता है। उसके रख-रखाव और उपयोगिता पर पूरा ध्यान रखता है। आसन शरीर को योग साधना के लिए अनुकूल बनाने के साधन हैं। आसन-सिद्ध-साधक सर्दी-गर्मी, मृदु-कठोर, स्निग्ध-रूक्ष (चिकना एवं खुरदरा) आदि स्पर्श से अभिभूत नहीं होता।

आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययनों से भी निष्कर्ष निकला है कि आसनों से ध्यान, समाधि, शारीरिक स्थिति की स्थिरता तथा शरीर-विकास के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के शरीरिक तथा मानसिक परिवर्तन भी शरीर में होते हैं। इन परिवर्तनों में मुख्य रूप से शरीर के वजन में कमी, श्वास गति में कमी, वक्षःस्थल के विस्तार में वृद्धि, प्राण ऊर्जा में वृद्धि, रक्त में शर्करा में कमी, रक्त में वसा में कमी, रक्त में प्रोटीन में वृद्धि, अधिवृक्क ग्रंथि के कार्यों में नियमन इत्यादि हैं। कुछ मानसिक क्रियाओं में प्रगति जैसे—बुद्धि लब्धि, भावनात्मक नियंत्रण तथा चित्त की चंचलता आदि में कमी देखने को मिली। इसके साथ-साथ अनेक अन्य प्रकार के परिवर्तन भी देखने को मिले।

4.4 प्राणायाम

प्राणायाम योग का चतुर्थ अंग है। यहां प्राण का अर्थ श्वास लेना और छोड़ना है। इसका आयाम अर्थात् नियंत्रण ही प्राणायाम है। पतंजलि ने इसे श्वास प्रश्वास के बीच गति विच्छेद के रूप में परिभाषित किया है—

तस्मिन्सति श्वास प्रश्वासयोर्गतिच्छेदः प्राणायामः। (पा.सू. 2/49)

अर्थात् श्वास लेना, प्राणवायु से फेफड़ों को भरना, तदनन्तर उसे रोकना और उसके बाद छोड़ना, फिर छोड़ने के बाद भी श्वसन क्रिया को कुछ समय के लिए रोकना और फिर श्वास भरना। स्थूल रूप में प्राणायाम जीवन शक्ति अर्थात प्राण से संबंधित है। प्राणायाम के तीन अंग है—पूरक (श्वास को अंदर खींचना), रेचक (श्वास को बाहर छोड़ना) कुंभक (श्वास को अंदर एवं बाहर रोकना)। प्राणायाम के भी विभिन्न प्रकार हैं।

प्राणायाम कठिन साधना है और इसे सुयोग्य गुरु से सीखना चाहिए तथा गुरु के सान्निध्य में ही प्रारंभिक अभ्यास करना चाहिए। चूंकि इस क्रिया में प्राण शक्ति का संचालन किया जाना है। इसलिए इसमें असावधानी रखने से घातक दुष्परिणाम हो सकते हैं। प्राणायाम के संदर्भ में नाड़ी विज्ञान का विशेष महत्त्व है। प्राणायाम को नाड़ी शुद्धि का उपाय स्वीकार किया गया है। माना गया है कि नाड़ियों से वायु का संचार होता है। यद्यपि प्राणायाम श्वसनिक व्यायाम है फिर भी इसका प्रयोग विशिष्ट ढंग से क्रमबद्ध शरीर क्रियात्मक विकास तथा मनोदैहिक विश्रान्ति (शिथिलता) के लिए करते हैं। प्राणायाम पर किये गये आधुनिक अध्ययनों में अन्तःस्रावी ग्रंथियों तथा चयापचयात्क क्रियाओं में विकास, हृदय तथा फुफ्फुसों की क्रिया में सुधार के लक्षण देखे गये हैं। पतंजलि भी कहते है कि मोह के कारण विवेक ज्ञान के ऊपर जो एक आवरण पड़ा रहता है, वह प्राणायाम के अभ्यास से क्षीण (कमजोर) होता है। कहा गया है कि प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है। इससे शारीरिक और मानसिक मलों (अशुद्धियों) की शुद्धि होती है और ज्ञान में वृद्धि होती है।

4.5 प्रत्याहार

प्रत्याहार स्वनियंत्रण की प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से पृथक रखता है। अन्य शब्दों में इसका सम्बन्ध वैराग्य का जीवन व्यतीत करने से है जो योग की अग्रिम उच्च मानसिक अवस्थाओं की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। वस्तुतः प्रत्याहार पतंजलि के अष्टांग योग में अंतरंग एवं बहिरंग अवस्थाओं में सेतु रूप है। प्रत्याहार मनोनिरोग एवं इन्द्रिय व्यापार से मन को अलग करने की प्रक्रिया है। वस्तुतः प्रत्याहार द्वारा योगी अपने मन को स्वयं में केन्द्रित कर इसे इन्द्रियों द्वारा प्राप्त तरंगों से पृथक कर लेता है। जब कभी हम मन के नियमन (रोकने) का प्रयास करते हैं तब मानसिक स्तर पर अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं।प्रत्याहार का उद्देश्य मनोनिरोधपूर्वक इन्द्रिय-निग्रह द्वारा इन परिवर्तनों को खत्म करना है। प्रत्याहार के अभ्यास में इन्द्रियों को इनके विषयों से विमुख (हटाना) किया जाता है। विषय-विमुख होने पर इन्द्रियां चित्त की अनुगामी हो जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जब रानी मधुमक्खी मुड़ती है तो सभी श्रमिक मधुमक्खियां मुड़ जाती हैं और फिर जहां रानी मधुमक्खी बैठती हैं, वहीं सभी बैठ जाती हैं। इसी प्रकार इन्द्रियां चित्त का अनुसरण करती हैं। जैसे-जैसे चित्त वृत्तियों के निरोध की ओर जाता है वैसे-वैसे इन्द्रियां उसके साथ चलती हैं। वे विद्रोह या विक्षोभ (दु:ख) नहीं करती हैं।

4.6 धारणा

धारणा पतंजलि के अष्टांगयोग के छठे अंग के रूप में वर्णित है। पतंजलि ने धारणा को अंतरंग योग मानते हुए संयम का अंग बताया है। औपनिषदिक परम्परा में धारणा के अनेक लक्षणों के उल्लेख के कारण उसकी एक सीमित परिभाषा दे पाना कठिन है। व्यावहारिक दृष्टि से पातंजल योग सूत्र के आधार पर 'धारणा' के स्वरूप को समझना अधिक उपयोगी एवं सामयिक रहेगा। पतंजलि के अनुसार बाहर या शरीर के भीतर कहीं भी किसी एक देश में चित्त को ठहराना धारणा है—**देश बन्ध चित्तस्य ध ारणा।'** यह समाधि की ओर पहला कदम है जिसमें साधक ध्येय वस्तु को मन के समक्ष स्थिर रखता है। इसके लिए वह किसी ध्येय वस्तु जैसे शरीर के बाहर किसी इष्टदेव की प्रतिमा या अपने शरीरगत किसी प्रदेश जैसे नाक के अग्र भाग पर अपने मन को स्थिर करना है। वस्तुत: यह एक प्रकार का मानसिक व्यायाम है जो साधक को आगे ध्यान तथा समाधि के अभ्यास में समर्थ बनाता है। धारणा में भी वही साधक पूर्ण सफल होता है जो बहिरंग योगाभ्यास के साथ-साथ प्रत्याहार का सफल अभ्यास करता है।

धारणा का अर्थ है—धारण करना। इसका अर्थ कान्सेन्ट्रेशन (Concentration) से भी लिया जाता है। यद्यपि अंग्रेजी का यह शब्द योग विज्ञान के धारणा शब्द का पूर्ण अर्थ में प्रतिनिधित्व नहीं करता है। फिर भी उसके पास स्थित होने का अधि ाकार वह जरूर रखता है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से मन को पूर्ण रूप से स्थिर करना असम्भव है। उच्चतम ध्यान की अवस्था में भी मन चलता रहता है। इसलिए कन्सेन्ट्रेशन का तात्पर्य है मन की गति का एक सीमा में नियमन मात्र करना। परन्तु योगशास्त्र के अनुसार उपरोक्त प्रकार के मनोगति के नियमन के अभ्यास द्वारा पूर्ण मानसिक एकाग्रता की स्थिति तक पहुंचाया जा सकता है और उस उच्चतम स्थिति में पहुंचने पर मन पूर्ण रूप से स्थिर हो जाता है।

4.7 ध्यान

धारणा में ज्ञानवृत्ति की निरंतरता नहीं होती है। वह त्रुटि या खण्डित होती रहती है। यह ज्ञानवृत्ति जब एक ज्ञान, एक रूप हो जाती है तो वह ध्यान की अवस्था कहलाती है। जैसे जल जिस पात्र में रखा जाता है, वह उसी का आकार ले लेता है। उसी प्रकार ध्यान की अवस्था में मन जिस वस्तु पर टिका हुआ है, वह उसी वस्तु के आकार वाला बन जाता है। इसलिए ब्रह्म या परमात्मा का ध्यान करने का विधान किया गया है जिसका वाचक ओंकार या प्रणव है। **तत्र प्रत्येकतानताध्यानम् (पा. सू. 3/2)** कहकर पतंजलि सूत्र में ध्यान को परिभाषित किया गया है। तात्पर्य है कि जिस वृत्ति से ध्येय में मन को लगाता है, वह वृत्ति लगातार बनी रहे, दूसरी ओर कोई वृत्ति बीच में न आए, उसे ध्यान कहते हैं। प्राय: सभी धर्मों में ध्यान का महत्वपूर्ण स्थान है और इसे आध्यात्मिक साधना का अनिवार्य अंग बनाया गया है। ध्यान का मुख्य उद्देश्य तो आध्यात्मिक ही है परन्तु इस क्रम में ध्यान से भौतिक उपलब्धियां भी होती है। जैसे बिजली के बल्ब के फिलामेंट में जब निर्बाध रूप से (बिना बाधा के) विद्युत प्रवाह होता है तब वह चमकने लगता है। इसी तरह ध्यान से साधक की बुद्धि अधिक प्रखर हो जाती है। उसका मुख-मण्डल दीप्तिमान और शरीर स्वस्थ हो जाता है। उसकी वाणी मधुर और गंभीर हो जाती है। इनके अतिरिक्त उसे अतिमानवीय शक्तियों की भी उपलब्धि हो सकती है परन्तु इन उपलब्धियों के प्रति आसक्त होने से वह योग-भ्रष्ट हो सकता है। इसीलिए यह ध्यातव्य है कि ध्यान भौतिक सुख के लिए नहीं अपितु आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के लिए करना चाहिए, भौतिक सुख तो अपने आप मिल जाते हैं।

4.8 समाधि

समाधि पातंजल अष्टांग योग का आठवां अंग हैं। प्राय: योग की सभी विचारधाराओं में समाधि को अंतिम लक्ष्य स्वीकार किया गया है। यह मन की समस्त वृत्तियों के निरोध या विनाश की अवस्था है। जब ध्याता ध्येयाकार हो जाता है और उसका स्वरूप शून्य हो जाता है तब वही ध्यान समाधि हो जाता है। यह वह अवस्था है जिसमें ध्यान भी छूट जाता है केवल आत्मा के अस्तित्व मात्र का बोध रहता है। वह ध्येय के आकार में परिणत हो जाता है। ध्याता, ध्यान और ध्येय इन तीनों की एकता जहां होती है, उसे समाधि कहते हैं। कहा गया है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः" (पा. सू. 3/3)

इसी क्रम में वाराहोपनिषद् में मन का आत्मा के साथ एकाकार होना समाधि माना गया है। योग तत्वोपनिषद में जीवात्मा तथा परमात्मा के संयोग को समाधि कहा गया है।

निष्कर्षत: ध्यानाभ्यास करते-करते स्वरूप रचना का प्रादुर्भाव हो जाने पर समाधि सिद्ध हो जाती है। अपने ही उच्चतर चेतना का प्रादुर्भाव होने लगता है और ध्येय के पार स्थित आत्यन्तिक सत्य की अनुभूति होने लगती है। यहां पर ध्याता तथा ध येय एकाकार हो जाते हैं। इस प्रकार समाधि ध्यानाभ्यास की ही उच्चतर अवस्था है। धारणाभ्यास में बाह्य आकर्षण कम हो जाता है। ध्यान की अवस्था में स्वरूपाभास की आवृत्ति कम होते-होते समाधि अवस्था में पहुंचने तक चेतना पूर्णरूप से स्व-चिन्तन से रहित हो जाती है और चेतना के क्षेत्र में ध्येय मात्र शेष रह जाता है। ये परिवर्तन पूर्णरूप से मानसिक प्रक्रियाएँ हैं और इनका संबंध चेतना से है। शारीरिक प्रक्रियाएँ चलती रह सकती है परन्तु उन पर बाह्य तथा आभ्यन्तर जगत् की हलचलों का प्रभाव नहीं पड़ता है। ज्ञात ही है कि बाह्य जगत् की हलचलों के प्रभाव से रहित शरीर वाली हर स्थिति समाधि नहीं हो सकती है। वस्तुत: समाधि अवस्था का विशेष लक्षण है स्वरूप शून्यता तथा आत्यन्तिक सत्य की अनुभूति। बिना उपरोक्त प्रकार के मानसिक विकास के मात्र शारीरिक स्थिरीकरण वाली स्थिति वास्तविक समाधि नहीं है। इसे जड़- समाधि की संज्ञा दी जा सकती है। इस प्रकार की जड़-समाधि से पुरुष किसी प्रकार के मानसिक संस्कार या मेधावर्धन के बिना ही बाहर आता है जब कि वास्तविक समाधि ा से निकलने वाले व्यक्ति को भावातीत ज्ञान, बुद्धि, शक्ति तथा आंतरिक शक्ति प्राप्त होती है। समाधि की विभिन्न अवस्थाओं में क्रमश: चेतना का विकास होता है और चेतना अपने बंधनों से मुक्त होती जाती है, कैवल्य को प्राप्त होती है। स्वरूप शून्यता को समझाते हुए पतंजलि कहते हैं कि जब ध्यान में केवल ध्येयमात्र की ही प्रतीत होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाता है तब वही ध्यान समाधि हो जाता है। अर्थात् ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाता है, बदल जाता है, उसी में अवस्थित हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव सा हो जाता है और उसको ध्येय से भिन्नता की उपलब्धि या अनुभव नहीं होता उस समय उस ध्यान का नाम ही स्वस्थ शून्यता या समाधि हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अष्टांग योग बुद्धिगम्य, स्वरूप प्राप्ति हेतु योगाभ्यास की व्यवस्था है जिसका अंतिम लक्ष्य परम ब्रह्म का साक्षात्कार करना है। अष्टांग योग के आठों अंग बुद्धि गम्य उपाय हैं जिनसे शारीरिक तथा मानसिक विकास होता है।

बोध प्रश्न

1. वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

1. योग का अर्थ क्या है?
2. पतंजलि ने योग की क्या परिभाषा दी है?
3. समाधिपाद में कितने सूत्र हैं?
4. पातंजल योग के कितने अंग हैं?
5. नियम कितने हैं?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न—

1. भारतीय योग का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. भारतीय योग की प्रमुख शाखाओं को बताइए।

3. निबंधात्मक प्रश्न—

1. पातंजल योग के अंगों की व्याख्या कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
2.0 भूमिका
3.0 प्रेक्षाध्यान : परिचय
4.0 प्रेक्षाध्यान के मूलस्रोत
5.0 प्रेक्षाध्यान के अंग
6.0 प्रेक्षाध्यान का आध्यात्मिक आधार
7.0 प्रेक्षाध्यान की उपसंपदा

1.0 उद्देश्य

इस पाठ के द्वारा निम्न उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है—

1. प्रेक्षाध्यान की जानकारी प्राप्त हो सकेगी।
2. प्रेक्षाध्यान के विभिन्न अंगों की जानकारी प्राप्त हो सकेगी।
3. प्रेक्षाध्यान के मूलस्रोतों की जानकारी हो सकेगी।
4. प्रेक्षाध्यान की उपसंपदा की जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

2.0 भूमिका

ध्यान–योग प्राचीन परंपरा से ही भारतीय संस्कृति के अंग रहे हैं। यद्यपि पातंजल योग के अनुसार ध्यान योग का ही एक अंग है लेकिन जैन और बौद्ध परंपराओं में योग के लिए ध्यान शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। अत: प्रत्येक परम्परा की अपनी–अपनी आत्म साधना की प्रक्रिया भी कुछ–कुछ विशिष्टता लिए हुए है। प्रेक्षाध्यान जैन योग का अर्वाचीन संस्करण है। यह आचार्य श्री महाप्रज्ञ की देन है। आचार्य श्री ने वैज्ञानिक युग की आवश्यकता के अनुसार इस नवीन साधना पद्धति को अपने अनुभव, अध्ययन व साधना से विकसित किया है। यह साधना विधि अत्याधुनिक एवं सीखने में सरल है। वैज्ञानिक विश्लेषण व व्याख्याओं से परिपूर्ण है। अत: इसको समझना भी आसान है।

3.0 प्रेक्षाध्यान : परिचय

यह सृष्टि विभिन्न पदार्थों से बनी हुई है। हर पदार्थ का अपना इतिहास होता है, मात्र पदार्थ का ही नहीं। इस वस्तु जगत की हर सत्ता का अपना ऐतिहासिक आधार है। जैसे एक बच्चे का जन्म उसकी मां के गर्भ से होता है उसी तरह हर किसी का जन्म कहीं न कहीं किसी आधार से जुड़ा होता है। मनुष्य जीवन में एक ऐसा पक्ष है जो उसे आत्म–तत्त्व की ओर ले जाता है। अब आत्म तत्त्व को कैसे जाना जाये? इसके लिए हमारे पूर्वजों ने हमें एक क्षेत्र दिया योग का, ध्यान का। उस ध्यान के क्षेत्र में अनेकों ध्यान के स्वरूप है जिनमें एक का नाम है—प्रेक्षाध्यान। यह ध्यान जैन धर्म में प्रतिपादित है। जैसा कि ज्ञात है कि जैन धर्म का आधार आगम साहित्य है। इन्हीं आगमों में जो जानने को मिलता है वही मूलत: जैन धर्म का आधार है। इन बत्तीस आगमों में कुछ ऐसे आगम है जिनमें योग साधना एवं ध्यान साधना पर वर्णन मिलता है। उस ध्यान साधना में हमें प्रेक्षाध्यान के बारे में भी जानने का अवसर मिलता है। जैसे—प्रेक्षाध्यान क्या है? इसका आधार क्या है? प्रयोजन क्या है इत्यादि।

4.0 प्रेक्षाध्यान के मूल स्रोत

प्रेक्षा के मूल स्रोत आदिनाथ ऋषभ हैं। एक घटना है। ऋषभ के पुत्र भरत ने स्नान किया। स्नान कर वे शयनकक्ष में बैठे जो शीशों का बना था। वे आसन पर बैठकर दर्पण में देखकर प्रेक्षा करने लगे। प्रेक्षा करते–करते वे केवलज्ञानी बन गए। अत: यही ध्यान की परंपरा का आदि स्रोत हैं। भगवान् पार्श्व की साधना भी विशिष्ट थी उनकी साधना का प्रभाव बहुत व्यापक बना। पार्श्व के पश्चात् भगवान महावीर की साधना भी उत्कृष्ट रही। वे कई दिनों तक ध्यान साधना करते रहते थे। कभी वे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उर्ध्वलोक को देखते तो कभी मध्यलोक को देखते थे। उनकी प्रेक्षा अनवरत चलती रहती थी। उनके निर्वाण के पश्चात् भी ध्यान साधना चलती रही और यह क्रम लंबे समय तक चला। समय के साथ-साथ इसमें भी परिवर्तन हुआ। ध्यान साधना कुछ कमजोर हो गई। मूल सिद्धांत छूटते गए और हठयोग की प्रभावी पद्धति चल पड़ी। आचार्य हरिभद्र, आचार्य हेमचंद्र, शुभचंद्र, पूजयपाद आदि ने पुनः ध्यान साधना को आगे तो बढ़ाया लेकिन इसका स्वरूप परिवर्तित हो गया। स्थिति ऐसी बन गई कि जैन लोग यह भूल ही गए कि उनकी भी कोई साधना पद्धति है।

आगम संपादन का कार्य चल रहा था। आचार्य महाप्रज्ञ जी उत्तराध्ययन का संपादन कर रहे थे। इसके तीसवें अध्याय में ध्यान का लंबा प्रकरण जोड़ा गया। उस संदर्भ में जैन योग के अनेक ग्रंथों का पारायण किया तथा उनका यथोचित उपयोग भी किया। आचार्य महाप्रज्ञ ने आचार्य श्री तुलसी को कहा कि ध्यान पर जैनों ने बहुत कुछ लिखा है। आचार्यश्री तुलसी ने कहा कि हां! लेकिन अब यह परंपरा छूट गई है। क्यों न इस पर अनुसंधान किया जाए—यही मंत्र था प्रेक्षाध्यान के अभ्युदय का। आचार्य तुलसी इसके मंत्रदाता बने। इस ध्यान पद्धति पर अनेक शिविरों का आयोजन होने लगा जिसके अच्छे परिणाम मिलने लगे। अंततः इस ध्यान पद्धति का नाम 1975 में प्रेक्षाध्यान रखा गया। प्रेक्षाध्यान के आगमिक तथा आगमेत्तर स्रोतों को संक्षेप में निम्न प्रकार जाना जा सकता है—

1. कायोत्सर्ग और श्वास प्रेक्षा का मूल स्रोत है कायोत्सर्ग शतक और आवश्यक निर्युक्ति। कहा गया है कि श्वास को मंद करें, कायोत्सर्ग में रहें।

2. शरीर प्रेक्षा का मूल स्रोत है आचारांग सूत्र। कहा गया है कि—जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणेत्तिमन्नेसि। अर्थात् विग्रह, शरीर का जो वर्तमान क्षण है, उसका अन्वेषण करें।

3. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का मूल स्रोत है नंदी सूत्र है। इसमें सैकड़ों चैतन्य केन्द्रों की चर्चा की गई है।

4. लेश्याध्यान का प्रयोग एक आकस्मिक प्रयोग है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार-लेश्याध्यान का प्रयोग आकस्मिक ढंग से हुआ। न कभी सोचा था और न कभी चिंतन किया था। शिविर में गए, ध्यान का प्रयोग करना था। अतः लेश्याध्यान का प्रयोग सामने आया। जयाचार्य के दो ग्रंथों-छोटा ध्यान और बड़ा ध्यान में भी रंगों के ध्यान का वर्णन मिलता है।

4.1 प्रेक्षाध्यान का अर्थ : व्यंजना

प्रेक्षा शब्द 'ईक्ष' धातु से बना है। इसका अर्थ है देखना। प्र + ईक्षा अर्थात् प्रेक्षा। इसका अर्थ है गहराई में उतरकर देखना। यहां पर 'प्र' उपसर्ग है। प्रेक्षा में चेतना के स्थूल स्वर से सूक्ष्म स्तर तक आंतरिक घटनाओं को देखा जाता है।

4.2 प्रेक्षाध्यान का ध्येय

प्रेक्षाध्यान का ध्येय है आत्म साक्षात्कार। स्वयं का ज्ञान। इस अर्थ का आगमिक आधार भी मिलता है। दसवैकालिक सूत्र में आया है "संपिक्खए अप्पगमप्पएणं"। अर्थात् आत्मा के द्वारा आत्मा की संप्रेक्षा करना। स्थूल मन से सूक्ष्म मन को, स्थूल चेतना से सूक्ष्म चेतना को देखना। चूंकि "मात्र देखना" ही ध्यान का मूलभूत तथ्य है। इसलिए भी इस ध्यान का नाम प्रेक्षाध्यान रखा गया। प्रायः ध्यान शब्द की परिभाषा भी यही की जाती है कि किसी एक निश्चित विषय पर लंबे समय तक विचार को एकाग्र करना। ध्यान के समय जब मानसिक क्रियाएँ शांत हो जाती हैं तो चेतना का कार्य मात्र देखना रह जाता है। चूंकि जानना और देखना ही चेतना लक्षण है। आवृत्त चेतना में जानने और देखने की क्षमता न्यून होती है। इसीलिए ध्यान के द्वारा चेतना को अनावृत किया जाता है। आज के समय में मन के कार्यों, जैसे—चिंतन, बौद्धिक विश्लेषण, तार्किक विचारों आदि को अधिक महत्व दिया जाता है परन्तु चेतना के द्वारा देखने की शक्ति को उजागर नहीं किया जाता है, विकसित नहीं किया जाता। प्रेक्षाध्यान में जो स्व के द्वारा स्व के दर्शन की बात कही गई है, वह अध्यात्म चेतना के जागरण का महत्वपूर्ण सूत्र है। राग-द्वेष से मुक्त देखना ज्ञाता-द्रष्टा भाव से देखना इसका मूल तात्पर्य है। इस सूत्र की क्रियान्विति हम स्व के स्थूल स्तर श्वास से प्रारम्भ करते हैं। प्रथमतः श्वास को देखते हैं फिर शरीर को देखते हैं। तत्पश्चात् शरीर के भीतर होने वाले स्पंदनों, कंपनों हलचलों को देखते हैं। इन्हें देखते-देखते चित्त पटु (कुशल) हो जाता है, सूक्ष्म हो जाता है। फिर अनेक स्पन्दन देखने लग जाता है। अन्ततः आत्मा को देखने लग जाता है। इसका क्या प्रतिफल होता है—आचारांग सूत्र में इसका प्रमाण मिलता है। जो क्रोध मान माया लोभ, प्रियता और अप्रियता आदि दोषों को अपने भीतर देख लेता है, वह जन्म मृत्यु और दुःख के समूल चक्रव्यूह को तोड़ देता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अकर्म (ध्यानस्थ) होकर अर्थात् वचन और शरीर की क्रिया का निरोध कर जो मात्र दर्शन करता है उसको उपाधि (भावनात्मक बीमारी) नहीं सताती। इसका यह कारण है कि जब हम देखते हैं तब सोचते नहीं है और जब सोचते हैं तब देखते नहीं हैं। सोचने और विचारों का जो सिलसिला चलता है, उसे रोकने का सबसे पहला और अंतिम उपाय है — देखना। जितनी भी कल्पनाएँ हैं, व्यामोह है, विचारों का चक्रव्यूह है, उन सबको निर्मूल करने का अमोघ उपाय है — देखना। जब व्यक्ति मात्र देखने लग जाता है तब इसके विचार स्थगित, शिथिल हो जाते हैं। विकल्प शून्यता की स्थिति में प्रवेश हो जाता है। अन्ततः हम भीतर की गहराइयों में पहुंचकर आत्मा को देखते हैं और जानते हैं। आत्मा के द्वारा आत्मा को देखते हैं।

5.0 प्रेक्षाध्यान के अंग

प्रेक्षाध्यान के अंगों को तीन भागों में बांटा गया है —

1. **सहायक अंग** — 1. आसन, 2. प्राणायाम, 3. मुद्रा, 4. ध्वनि
2. **मुख्य अंग** — 1. कायोत्सर्ग, 2. अन्तर्यात्रा, 3. श्वास प्रेक्षा, 4. शरीर प्रेक्षा, 5. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, 6. लेश्याध्यान, 7. अनुप्रेक्षा, 8. भावना
3. **विशिष्ट अंग** — 1. वर्तमान क्षण की प्रेक्षा, 2. विचार प्रेक्षा, 3. अनिमेष प्रेक्षा।

5.1 सहायक अंग

प्रेक्षाध्यान के सहायक अंग में निम्न हैं —

5.1.1 आसन

आसन के द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य के अतिरिक्त मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास भी प्राप्त होता है। आसन की स्थिरता पर ही ध्यान की सफलता छिपी रहती है क्योंकि ध्यान की गहराई में जाने के लिए सर्वप्रथम शारीरिक स्थिरता फिर मन की स्थिरता, फिर वाणी की स्थिरता आवश्यक है। शरीर जब स्थिर हो जाता है तब अन्य स्थिरता सधने लगती है। प्रेक्षाध्यान की साधना के लिए अन्य आसनों के साथ-साथ ध्यान आसनों की सिद्धि आवश्यक है। प्रेक्षाध्यान की साधना में मुख्य रूप से सुखासन, वज्रासन, अर्धपद्मासन एवं पद्मासन का प्रयोग अधिकांशतः किया जाता है। साधकों को कम से कम एक मुहूर्त (48 मिनट) तक किसी भी एक आसन में स्थिरता से रहने की योग्यता प्राप्त कर लेनी चाहिए क्योंकि ध्यान की गहराई में जाने के लिए यह आवश्यक है।

5.1.2 प्राणायाम

श्वास पर नियंत्रण किये बिना वृत्तियों एवं भावों का परिष्कार असंभव है। हमारी निषेधात्मक एवं सकारात्मक दोनों ही प्रकार की वृत्तियों का सम्बन्ध श्वास के साथ है। प्रेक्षाध्यान में दीर्घश्वास प्रेक्षा एवं समवृत्ति श्वास प्रेक्षा श्वास नियंत्रण के दो महत्वपूर्ण प्रयोग हैं। प्रेक्षाध्यान में प्राणायाम का बहुत महत्व है क्योंकि प्राण के सही संचार से वात, पित्त व कफ दोष कुपित नहीं होते हैं। ध्यान के लिए इनका संतुलित होना आवश्यक होता है। इससे ध्यानकाल में शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा, सहने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। अर्थात् ठंडा, गर्म, भूख तथा प्यास को सहन करने की क्षमता का विकास होता है।

5.1.3 मुद्रा

मुद्रा शरीर की एक ऐसी स्थिति है जो उठने, बैठने लेटने अथवा खड़े होने के ढंग के रूप में देखी जा सकती है। यह सकारात्मक तथा निषेधात्मक दोनों ही प्रकार ही होती है। इसका सीधा संबंध भावों से माना जाता है। उदाहरणार्थ प्रसन्नता की स्थिति में व्यक्ति के हावभाव अथवा चेहरे से ज्ञात हो जाता है। इसके विपरीत दुःख की स्थिति में व्यक्ति का चेहरा उदास होता है या व्यक्ति सिर पर हाथ रखता है। इसके अतिरिक्त भी व्यक्ति अनेक तरह की मुद्राएँ बनाता है जिससे उसकी भीतरी स्थिति का पता लग जाता है। अतः ध्यान-योग में सकारात्मक मुद्राओं के द्वारा नकारात्मक भावों को बदला जा सकता है। कहा जाता है जैसे भाव वैसी मुद्रा, जैसी मुद्रा वैसे भाव। दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। अतः भाव परिवर्तन के लिए विधेयात्मक मुद्रा आवश्यक है। प्रेक्षाध्यान भाव परिवर्तन की प्रक्रिया है। निषेधात्मक भावों को समाप्त कर विधेयात्मक भावों का विकास करना चहुमुंखी विकास के लिए आवश्यक है। प्रेक्षाध्यान में प्रयोग के समय मुख्य रूप से ज्ञानमुद्रा, वीतराग मुद्रा (ब्रह्म मुद्रा) का प्रयोग किया जाता है। इन मुद्राओं के प्रयोग से व्यक्ति को ध्यान की गहराई में जाने में सहायता मिलती है तथा आध्यात्मिक विकास होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.1.4 ध्वनि

प्रेक्षाध्यान में सभी प्रकार की ध्वनि एवं उसके महत्व को स्वीकार करता है लेकिन प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों में अधिकांशत: 'अर्हम्' ध्वनि एवं 'महाप्राण' ध्वनि का प्रयोग किया जाता है।

5.1.4.1 अर्हम् ध्वनि— अर्हम् जैन धर्म का मूल मंत्र है। इसकी ध्वनि से प्राण शक्ति सक्रिय होती है तथा व्यक्ति की सुषुप्त शक्तियां जाग्रत होती हैं। इस ध्वनि का उच्चारण विभिन्न प्रकार से किया जा सकता है। जैसे— जप, लयबद्ध गायन एवं मंत्र शास्त्रीय दृष्टि से। मंत्र शास्त्रीय विधि से अर्हम् के उच्चारण की निम्न विधि है—

'अ' का उच्चारण करते समय चित्त नाभि पर केन्द्रित रखते हैं। समय दो सेकेण्ड का होता है। 'र्ह' का उच्चारण करते समय चित्त को आनन्द केन्द्र पर केन्द्रित करते हैं। इसमें समय चार सेकेण्ड का होता है। 'म्' का उच्चारण करते समय चित्त विशुद्धि केन्द्र से ज्ञान केन्द्र तक ले जाते हैं। इसमें समय छ: सैकण्ड का होता है। अंतिम नाद के समय चित्त को ज्ञान केन्द्र पर ही टिकाए रखते हैं जिसमें समय दो सेकेण्ड का होता है। इस प्रकार कुल चौदह सेकेण्ड में इस ध्वनि की एक आवृत्ति हो जाती है। अगली ध्वनि के लिए श्वास भरने में चार सैकण्ड का समय लेते हैं। तत्पश्चात् पुन: विधिवत् ध्वनि प्रारम्भ करते हैं।

5.1.4.2 महाप्राण ध्वनि— महाप्राण ध्वनि एक अद्भुत एवं विलक्षण ध्वनि है। अधिकांश मंत्रों के अंत में निकलने वाली नाद ध्वनि पर महाप्राण ध्वनि निर्मित है। इस ध्वनि को करते समय अपने चित्त को ज्ञान केन्द्र अर्थात् चोटी वाले स्थान पर केन्द्रित करते हैं। महाप्राण ध्वनि के गुंजन से मस्तिष्क में एक विशेष प्रकार का प्रकम्पन होता है जिससे न्यूरोन्स सक्रिय होते हैं। इस ध्वनि से शारीरिक, मानसिक व भावनात्मक सभी प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं। इस ध्वनि की एक आवृति का समय सोलह सेकेण्ड है। अगली ध्वनि के लिए श्वास भरने में 4 सेकेण्ड का समय निर्धारित हैं। भंवरे की गुंजन की भांति नाक से की जाने वाली यह ध्वनि अध्यात्म के गहराई में जाने का द्वार खोलती है।

5.2 प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग

प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंगों की जानकारी निम्न प्रकार हैं—

5.2.1 कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग शिथिलीकरण का प्रयोग है। अर्थात् यह तनाव-मुक्ति की प्रक्रिया है। कायात्सर्ग दो शब्दों से मिलकर बना है काया + उपसर्ग। काया अर्थात् शरीर और उत्सर्ग अर्थात् छोड़ना। इस प्रकार शब्द की दृष्टि से सामान्य अर्थ में कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर को छोड़ना। विशिष्ट अर्थों में कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर के ममत्व को छोड़ना। शरीर की आसक्ति को छोड़ना। शरीर की आसक्ति को छोड़े बिना कायोत्सर्ग की साधना संभव नहीं हो सकती है क्योंकि कायोत्सर्ग आत्म साक्षात्कार की प्रक्रिया है। अत: शरीर की आसक्ति अथवा ममत्व को छोड़े बिना आत्म साक्षात्कार संभव नहीं है। जब तक इस शरीर से मोह रहता है तब तक आत्मा के दर्शन संभव नहीं हो सकते हैं। जीवन जड़ और चेतन दो तत्त्वों से मिलकर बना है। शरीर जड़ है तो आत्मा चेतन है। इस चेतन तत्त्व के कारण ही शरीर क्रिया करता है। आत्मा का स्थान शरीर में है। अत: इस शरीर का आलंबन लेकर आत्म तत्त्व के दर्शन की प्रक्रिया कायोत्सर्ग में है। अत: शरीर की स्थिरता, शिथिलता एवं मानसिक एकाग्रता कायोत्सर्ग के लिए आवश्यक शर्त है। कायोत्सर्ग में शरीर के प्रत्येक अवयव पर चित्त को एकाग्र करते हैं तथा उस अवयव को शिथिलता का सुझाव देते हैं। इस प्रकार पैर के अंगुठे से लेकर सिर तक प्रत्येक अवयव को शिथिल करने का सुझाव दिया जाता है। शरीर की शिथिलता सधने से सारी चंचलता समाप्त हो जाती है। चंचलता के समाप्त होने पर आत्म दर्शन की प्रक्रिया आसान हो जाती है। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर भी कायोत्सर्ग कई अर्थों में लाभदायक होता है। कायोत्सर्ग से शरीर की मांसपेशियां स्वस्थ रहती हैं। शरीर में विद्युत का प्रवाह समुचित मात्रा में होता है। शरीर के प्रत्येक अवयव को शिथिलता मिलने से वे और अधिक सक्रिय रहते हैं। अत: कायोत्सर्ग कई संदर्भों में लाभकारी सिद्ध होता है

5.2.2 अतंर्यात्रा

अंतर्यात्रा का अर्थ है भीतर की यात्रा। इस प्रयोग में चित्त की यात्रा शक्ति केन्द्र से ज्ञान तक सुषुम्ना मार्ग में की जाती है। ऐसा माना जाता है कि शक्ति केन्द्र पर शक्ति सघन रूप से रहती है और वह सुप्त अवस्था में होती है। सुप्त अवस्था में पड़ी शक्ति का बहुत बड़ा उपयोग नहीं हो सकता है। अत: योगाचार्यों ने इस शक्ति के जागरण की प्रक्रिया भी स्पष्ट की है। अंतर्यात्रा के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

द्वारा इस सुप्त शक्ति का जागरण कर इसे ज्ञान केन्द्र पर स्थापित किया जाता है। ज्ञान केन्द्र का स्थान सिर में चोटी के स्थान पर है। मस्तिष्क अनेक क्रिया-कलापों के लिए जिम्मेदार है। अत: यहां पर स्थित शक्ति जीवन के अनेक आयामों को उद्घाटित कर सकती है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह प्रयोग ऊर्जा के ऊर्ध्वारोहरण की प्रक्रिया है। साथ ही इस प्रयोग से इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों में भी संतुलन स्थापित किया जा सकता है। वैज्ञानिक दृष्टि से अनुकंपी तथा परानुकंपी तंत्र में संतुलन स्थापित किया जा सकता है।

5.2.3 श्वास प्रेक्षा

श्वास प्रेक्षा का अर्थ है—श्वास को देखना। इस प्रयोग में आते जाते श्वास की प्रेक्षा करते हैं। श्वास का आलंबन लेकर चित्त को कुशल तथा एकाग्र बनाया जा सकता है। चित्त की एकाग्रता सफलता का रहस्य है। श्वास पर नियंत्रण रखकर मन को भी नियंत्रित किया जा सकता है। श्वास और मन का सीधा संबंध है। श्वास छोटा होने पर मन चंचल हो जाता है तो मन की चंचलता बढ़ने से श्वास प्रभावित होता है। अत: श्वास प्रेक्षा कई संदर्भों में उपयोगी है। आध्यात्मिक दृष्टि से श्वास प्रेक्षा के द्वारा मानसिक एकाग्रता तो बढ़ती ही है साथ ही प्राण का अधिक ग्रहण होता है। इससे प्राण शक्ति मजबूत बनती है। वैज्ञानिक दृष्टि से श्वास प्रेक्षा के द्वारा अधिक आक्सीजन को ग्रहण किया जा सकता है तथा कार्बनडाइ आक्साइड को बाहर निकाला जा सकता है। आक्ससीजन की अधिक आपूर्ति होने से शरीर स्वस्थ रहता है, मन प्रसन्न होता है तथा भावधारा निर्मल होती है। श्वास प्रेक्षा के दो प्रकार है-दीर्घ श्वास प्रेक्षा तथा समवृत्ति श्वास प्रेक्षा। दीर्घ श्वास में दीर्घ श्वास लिया व छोड़ा जाता है तथा समवृत्ति श्वास में दांए नथुने से श्वास लेकर बांए नथुने से छोड़ा जाता है और बांए नथुने से लेकर दांए नथुने से छोड़ा जाता है। यह प्रयोग कुंभक (श्वास को रोकना) के साथ भी किया जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से समवृत्ति श्वास प्रेक्षा से इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों में संतुलन तथा वैज्ञानिक दृष्टि से अनुकंपी तथा परानुकंपी तंत्र में संतुलन स्थापित किया जा सकता है।

5.2.4 शरीर प्रेक्षा

शरीर प्रेक्षा का अर्थ है शरीर को देखना। शरीर को देखने का तात्पर्य है कि शरीर को खुली आंखों से नहीं वरन् बंद आंखों से चित्त के द्वारा देखा जाता है। इस प्रयोग में चित्त को पैर के अंगुठे से लेकर सिर तक प्रत्येक अवयव पर केन्द्रित कर वहां अवयव पर होने वाले प्राण के प्रकंपनों का अनुभव किया जाता है। कहा जाता है कि चित्त और प्राण की यात्रा साथ-साथ चलती है। अत: शरीर में चित्त की यात्रा से प्राण संतुलन की प्रक्रिया सरल होती है। शरीर प्रेक्षा का प्रयोग भी प्राण संतुलन का ही प्रयोग है। शरीर में प्राण भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न कार्यो के लिए जिम्मेदार होता है। प्राण के पांच मुख्य प्रकार हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। ऐसा भी माना है कि जब शरीर में प्राण का असंतुलन होता है तो शरीर में रोग उत्पन्न होता है तथा प्राण के संतुलन से शरीर विकार रहित होता है। अत: शरीर प्रेक्षा के द्वारा प्राण का संतुलन कर शरीर को स्वस्थ बनाया जा सकता है। वैज्ञानिक दृष्टि से शरीर प्रेक्षा के द्वारा रोग प्रतिरोधात्मक शक्ति को विकसित किया जा सकता है। अर्थात् शरीर में रोगों को दूर करने की शक्ति विकसित होती है।

5.2.5 चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा

चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का अर्थ है चैतन्य केन्द्रों को देखना। चैतन्य केन्द्र वे केन्द्र हैं जिन पर चेतना सघन रूप से विद्यमान रहती है। यों तो पूरे शरीर में चेतना के कई केन्द्र हैं। आयुर्वेद, एक्यूपंचर आदि की दृष्टि से भी शरीर के अनेक भागों में एक दूसरे के संवेदी केन्द्र पाए जाते हैं। साधना की दृष्टि से भी शरीर में अनेक चेतना के केन्द्र हैं। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा के अंतरगत शरीर में 13 मुख्य चैतन्य केन्द्रों को माना गया है। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा में प्रत्येक चैतन्य केन्द्र पर चित्त को एकाग्र कर वहां पर होने प्राण के प्रकंपनों का अनुभव किया जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से इन केन्द्रों पर ध्यान करने से सुप्त चेतना का जागरण होता है। चेतना विशुद्ध बनती है जिससे व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास तो होता है साथ ही अनेक प्रकार के विकारों का शमन होता है। भाव धारा निर्मल होती है। मन प्रसन्न होता ही है। वैज्ञानिक दृष्टि से इन चैतन्य केन्द्रों में कुछ केन्द्रों का संबंध अंत:स्रवी ग्रंथियों से माना जाता है। अंत:स्रावी ग्रंथियों का संतुलन व्यक्तित्व तथा व्यवहार को नियंत्रित करने में अपना महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। अत: इन केन्द्रों पर ध्यान करने से ग्रंथितंत्र के स्रावों का संतुलन होता है। ये केन्द्र निम्न हैं—

1. **शक्ति केन्द्र** — सुषुम्ना का अंतिम छोर
2. **स्वास्थ्य केन्द्र** — नाभि से चार अंगुल नीचे
3. **तैजस केन्द्र** — नाभि का स्थान
4. **आनंद केन्द्र** — दोनों फेफड़ों के मध्य का स्थान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. **विशुद्धि केन्द्र** — कंठ का स्थान
6. **ब्रह्म केन्द्र** — जीभ का अग्र भाग
7. **प्राण केन्द्र** — नाक का अग्र भाग
8. **अप्रमाद केन्द्र** — कान के बाहर, भीतर तथा मध्य का भाग
9. **चाक्षुष केन्द्र** — दोनों आंखों के मध्य का भाग
10. **दर्शन केन्द्र** — दोनों भृकुटियों के मध्य का भाग
11. **ज्योति केन्द्र** — ललाट के मध्य का भाग
12. **शांति केन्द्र** — सिर का अग्र भाग (तालू का भाग)
13. **ज्ञान केन्द्र** — शीर्षस्थ भाग (चोटी का भाग)।

5.2.6 लेश्याध्यान

लेश्याध्यान रंगों का ध्यान है। माना जाता है कि जैसे लेश्या के रंग होते हैं वैसे ही व्यक्ति का आभामंडल बनता है। लेश्या अच्छी तथा बुरी दोनों ही प्रकार की होती है। इसलिए आभामंडल भी अच्छा तथा बुरा दोनों ही प्रकार का होता है। आभामंडल शरीर के चारों ओर सूक्ष्म वलय होता है जिसे सामान्य आंखों से नहीं देखा जा सकता है। लेश्या ध्यान में रंगो के द्वारा बुरी लेश्या को अच्छी लेश्या में बदला जा सकता है जिससे आभामंडल भी शुद्ध हो जाता है। लेश्या ध्यान भाव शुद्धि का प्रयोग है। भाव ही व्यक्ति के व्यवहार का आदि स्रोत है। अत: भाव शुद्ध होने पर व्यवहार भी शुद्ध होता है। लेश्याध्यान के प्रयोग में संबंधित रंग को चमकता हुआ आभामंडल में काल्पनिक रूप से देखते हैं। तत्पश्चात् इसे श्वास के साथ शरीर के भीतर लेते हैं। जिस केन्द्र से रंग का संबंध होता है, उस केन्द्र से अमुक रंग के प्रकाश को आभामंडल में फैलता हुआ देखते हैं। इसके बाद भावना की जाती है। लेश्याध्यान में प्रमुख पांच केन्द्र तथा उनके पांच रंग निर्दिष्ट किए गए हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से लेश्याध्यान का प्रयोग भाव शुद्धि का प्रयोग है। वैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक रंग की अपनी तरंग दैर्ध्यता होती है तथा प्रत्येक रंग की अपनी प्रकृति होती है जो व्यक्तित्व प्रभावित करते हैं। रंग चिकित्सा में भी इन अंत:स्रावी ग्रंथियों का संबंध रंग से होता है जिससे अनेक प्रकार के रोगों का उपचार किया जा सकता है। अत: ग्रंथियों को भी रंगों के ध्यान द्वारा संतुलित किया जा सकता है। लेश्याध्यान के प्रमुख रंग तथा संबंधित केन्द्र (ग्रंथियां) निम्न प्रकार हैं—

रंग	केन्द्र (ग्रंथि)	भावना
हरा रंग	आनंद केन्द्र (थाइमस ग्रंथि)	भावधारा निर्मल हो रही है।
नीला रंग	विशुद्धि केन्द्र (थाइराइड ग्रंथि)	वासनाएँ अनुशासित हो रही हैं।
3. अरुण रंग	दर्शन केन्द्र (पिट्यूटरी ग्रंथि)	अंतर्दृष्टि जागृत हो रही है।
4. सफेद रंग	ज्योति केन्द्र (पीनियल ग्रंथि)	क्रोध शांत रहा है, आवेश-आवेग शांत हो रहे हैं।
5. पीला रंग	ज्ञान केन्द्र	ज्ञान तंतु विकसित हो रहे हैं, स्मृति का विकास हो रहा है।

5.2.7 अनुप्रेक्षा

अनुप्रेक्षा दो शब्दों से मिलकर बना है अनु + प्रेक्षा। अनु का अर्थ होता है बाद में, पीछे और प्रेक्षा का अर्थ है देखना। इस प्रकार का अनुप्रेक्षा का अर्थ प्रेक्षा के परिणामों पर विचार करना। प्रेक्षा में जो सत्य उद्घाटित हो, उसके परिणामों पर विचार करना, मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिंतन करना अर्थात् प्रेक्षा के पश्चात् मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिंतन करना अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा में प्रेक्षा के परिणामों का अनुचिंतन करते-करते सत्य का उ्घाटन होने लगता है। इस प्रयोग के द्वारा अनेक मानसिक रोगों का भी उपचार किया जा सकता है। साथ ही इनके द्वारा भावधारा, विचार तथा व्यवहार को परिवर्तित किया जा सकता है। अनुप्रेक्षा की पद्धति स्वभाव परिवर्तन की अचूक पद्धति है। इसके द्वारा जटिलतम आदतों को बदला जा सकता है। अनुप्रेक्षा का प्रयोग सत्य के लिए समर्पित हो जाने का सिद्धांत है। अनुप्रेक्षाएँ अनेक प्रकार की हैं। जैसे—अभय, मृदुता, सत्य, करुणा, प्रामाणिकता, कर्तव्यनिष्ठा, संप्रदाय निरपेक्षता आदि। अनुप्रेक्षा के द्वारा इन मूल्यों को व्यवहार का अंग बनाया जा सकता है।

5.2.8 भावना

भावना व्यक्तित्व को सजाने तथा संवारने में बहुत सहायक होती है। अर्थात् शुभ भावना के द्वारा अच्छे संस्कारों को निर्मित किया जा सकता है। व्यवहार को निर्मल बनाया जा सकता है। अत: प्रेक्षाध्यान में भावना का भी अपना विशेष महत्त्व है। भावना का अर्थ है कि सब विषयों को छोड़कर चित्त में केवल एक ही ध्येय का बार-बार बना रहना। भावना से मन को भावित किया जाता है जिससे भावना के अनुरूप ही परिणाम भी प्राप्त होने लगते हैं। भावना कुछ सोच लेना मात्र ही नहीं है वरन् भावना में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अपने ज्ञान तंतुओं तथा कोशिकाओं को अपने वशवर्ती किया जा सकता है, उन पर अपनी भावना को अंकित कर लेना। भावना के प्रयोगों द्वारा किए गए उपचारों को चिकित्सकों ने भी स्वीकार किया है। डॉ. स्टीफन ब्लैक ने माइंड एँड बॉडी नामक पुस्तक में लिखा है कि 'गहरी शिथिल अवस्था में रोगियों को लाकर सूचनात्मक भावना के द्वारा उनके शारीरिक व्यवहार में उल्लेखनीय परिवर्तन लाया जा सकता है। इस बात को प्रचुर प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।' भावना मस्तिष्क की धुलाई करने का बहुत बड़ा साधन है। एक ही बात को बार-बार दोहराने से पुराने विचार छूट जाते हैं और नए विचार चित्त में जम जाते हैं। अत: भावना का प्रयोग उपचार तथा मूल्य निर्माण के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

5.3 विशिष्ट अंग

प्रेक्षाध्यान के विशिष्ट अंगों में निम्न हैं—

5.3.1 वर्तमान क्षण की प्रेक्षा

वर्तमान क्षण की प्रेक्षा का अर्थ है कि वर्तमान में रहना; न भूतकाल और भविष्यत् काल। केवल वर्तमान में रहना। वर्तमान को देखना।

5.3.2 विचार प्रेक्षा

विचार प्रेक्षा का अर्थ है विचार को देखना। विचार को केवल ज्ञाता-द्रष्टा भाव से देखना। न उसके प्रति कोई राग और कोई द्वेष। इस प्रकार विचार प्रेक्षा करते-करते निर्विचारिता की स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है।

5.3.3 अनिमेष प्रेक्षा

अनिमेष प्रेक्षा का अर्थ है अपलक देखना। यह त्राटक का दूसरा नाम है। अनिमेष प्रेक्षा आंखों से अपलक देखने का प्रयोग किया जाता है। यह प्रयोग धीरे-धीरे बढ़ाकर अधिक समय तक करना चाहिए। अनिमेष प्रेक्षा के द्वारा मानसिक एकाग्रता का विकास किया जा सकता है।

बोध-प्रश्न

1. प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग कितने हैं?
2. प्रेक्षाध्यान के अन्तर्गत मुख्यत: कौन-सी मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है?
3. शरीर-प्रेक्षा किसे कहते हैं?
4. रंगों का ध्यान कौन-सा ध्यान है?
5. प्रेक्षाध्यान के विशिष्ट अंग कौन-से हैं?

6.0 प्रेक्षाध्यान का आध्यात्मिक आधार

प्रेक्षाध्यान के आध्यात्मिक आधार को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से प्रस्तुत करने जा रहे हैं—

6.1 द्वन्द्वात्मक अस्तित्व

ध्यान और योग के क्षेत्र में दो पक्ष हमेशा रहते हैं। वे हैं अध्यात्म और विज्ञान। ध्यान एवं योग का अध्यात्म पक्ष क्या होगा एवं वैज्ञानिक आधार क्या होगा-बिना इसकी चर्चा-परिचर्चा के हम विषय की सम्यक् जानकारी से वंचित रहते हैं। प्रेक्षाध्यान भी ध्यान की एक विशिष्ट पद्धति है। स्वाभाविक है कि इसका भी अध्यात्म एवं विज्ञान जगत् से कुछ न कुछ संबंध अवश्य होगा। अध्यात्म और विज्ञान की तरह हमारा अस्तित्व भी दो तत्वों के संयोग से बना है—चेतन या जीव एवं अचेतन या अजीव या जड़। यहां पर भिन्नता भी देखने मिलती है। कोई चेतन को अस्वीकार करके अनात्मवादी कहलाता है तो कोई स्वीकार करके आत्मवादी। जो आत्मवादी हैं वे आत्मा और शरीर को भिन्न मानते हैं, दो मानते हैं और चेतन के स्वतंत्र अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं। जिज्ञासा हो सकती है कि आध्यात्मिक आधार में इन सब बिंदुओं का क्या औचित्य है किन्तु ये ही सब बिंदु हमें प्रेक्षाध्यान के आध्यात्मिक आधार की दिशा में ले जायेंगे। अध्यात्म से तात्पर्य होता है आत्मा की ओर ले जाने वाला। यह सब चर्चा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चेतन और अचेतन से संबंधित है। जब हम चेतन और अचेतन को स्पष्ट कर लेंगे, जब आत्म तत्व को समझ पायेंगे तब पता चलेगा कि प्रेक्षाध्यान में जो बताया जा रहा है वह किस रूप में उसके आध्यात्मिक आधार को पुष्ट करता है, क्या आत्मा का दर्शन कराया जाता है, क्या हम आत्मा की समीपता का अनुभव कर सकते हैं-इन सबका समाधान है प्रेक्षाध्यान। प्रेक्षाध्यान कहता है कि अगर हमें आत्म-तत्त्व को जानना एवं देखना है तो स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा करनी होगी। शरीर, इन्द्रिय, मन से परे चित्त, अध्यवसाय, चेतना को समझना होगा।

6.1.1 अध्यवसाय तंत्र

आत्मवादी दर्शन के अनुसार केन्द्र में है- द्रव्य आत्मा या मूल आत्मा। उस केन्द्र की परिधि में अति सूक्ष्म कर्म शरीर द्वारा निर्मित कषाय का वलय है। यद्यपि चेतन तत्त्व शासक के स्थान पर है फिर भी कषाय तंत्र इतना शक्तिशाली है कि उसकी इच्छा के बिना शासक कुछ नहीं कर पाता है। चैतन्य की प्रवृत्ति स्पन्दन के रूप में होती है। इन्हें बाहर निकलने के लिए कषाय वलय को पार करना पड़ता है। पार करने पर उनका एक स्वतंत्र तंत्र दूसरे सूक्ष्म शरीर, तैजस शरीर के साथ-साथ सक्रिय होकर आगे बढ़ता है। वह बन जाता है लेश्यातंत्र। चेतना के स्पन्दन आगे बढ़कर स्थूल शरीर में उतरते हैं। वहां सबसे पहले मस्तिष्क के माध्यम से चित्त का निर्माण करते हैं।

6.1.2 क्रियातंत्र

मन, शरीर और वाणी, ये तीनों क्रियातंत्र (योग तंत्र) के अंग है क्रियान्विति के साधन हैं। ज्ञान के साधन नहीं ज्ञान तंत्र चित्त तंत्र तक और भाव तंत्र लेश्या तंत्र तक समाप्त हो जाता है। इन दोनों के निर्देशों की क्रियान्विति के लिए क्रिया तंत्र सक्रिय होता है। इसके तीन कर्मचारी हैं मन, वाणी और शरीर। मन का कार्य है स्मृति, कल्पना और चिंतन करना। मन का कार्य ज्ञान करना नहीं है। मन का कार्य है चित्त तंत्र और लेश्या तंत्र से मिलने वाले निर्देशों का पालन करना। इस प्रकार चैतन्य के स्पन्दन कषाय के वलय को पारकर अध्यवसाय के रूप में बाहर आते हैं और वे लेश्या तंत्र के साथ मिलकर भावधारा बन जाते हैं। स्थूल शरीर में वह भावधारा ग्रंथितंत्र के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, वह भावतंत्र कहलाता है।

भावधारा वृत्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है एवं चित्त को प्रवृत्ति क्रिया आचरण के लिए बाध्य करती है। चित्त की जागरूकता में, विवेक व प्रज्ञा के जागरण की अवस्था में चित्त अप्रभावित रहता है एवं वृत्ति विफल हो जाती है। अन्यथा चित्त की मूर्च्छावस्था में वृत्ति से प्रवृत्ति एवं प्रवृत्ति से पुनरावृत्ति का दुष्चक्र चलता रहता है। प्रेक्षाध्यान जागरूकता, विवेक शक्ति एवं प्रज्ञा के जागरण का सशक्त माध्यम या साधन बनता है। वह प्रवृत्ति तंत्र अर्थात् क्रियातंत्र को नियंत्रित कर वृत्ति, भाव एवं कषाय को परिष्कृत करता है। यह आत्म साक्षात्कार व आत्म विकास के चरम शिखर पर आरोहण का आलंबन है।

7.0 प्रेक्षाध्यान की उपसम्पदा

उपसम्पदा का शाब्दिक अर्थ है सम्पदा के निकट रहना। यहाँ सम्पदा से तात्पर्य आन्तरिक सम्पदा से है। अर्थात् उपसम्पदा आन्तरिक सम्पदा को प्राप्त करने के लिए मानसिक तैयारी है। अत: साधना प्रारम्भ करने से पूर्व साधक सुखासन में बैठकर बद्धांजलि होकर प्रेक्षाध्यान की उपसम्पदा स्वीकार करते हैं। शरीर को शिथिल और मन को तनावमुक्त कर निम्न सूत्रों का उच्चारण करते हैं—

"अब्भुट्ठिओमि आराहणाए।"
मैं प्रेक्षाध्यान की आराधना में उपस्थित होता हूँ।

"मग्गं उवसंपज्जामि।"
मैं अध्यात्म-साधना का मार्ग स्वीकार करता हूँ।

"सम्मत्तं उवसंपज्जामि।"
मैं अन्तर्दर्शन की उपसंपदा स्वीकार करता हूँ।

"संजमं उवसंपज्जामि।''
मैं आध्यात्मिक अनुभव की उपसम्पदा स्वीकार करता हूँ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ये चार प्रेक्षाध्यान की उपसंपदाएँ हैं। मात्र उपसंपदा स्वीकार करने से ही इसका तात्पर्य नहीं है। अपितु उपसम्पदा की कुछ चर्या, प्रक्रिया या नियम बताए गए हैं जिनका अनुपालन उपसंपदा में प्रवेश हेतु आवश्यक है। उसके मूलभूत पांच सूत्र हैं—1. भाव क्रिया 2. प्रतिक्रिया विरति 3. मैत्री 4. मिताहार 5. मितभाषण

मितभोजन मितभाषिता, मैत्री का आधार।
प्रतिक्रिया से शून्य हो, क्रिया स्वयं निर्भार।

सदा साधना में रहे, भावक्रिया उदार।
पांचों ही ये सूत्र हैं, सच्चे पहरेदार।।

7.1 भावक्रिया (वर्तमान क्षण की प्रेक्षा)

भावक्रिया के तीन अर्थ हैं— (i) वर्तमान में जीना (ii) जानते हुए करना (iii) सतत् अप्रमत्त रहना।

जो वर्तमान क्षण का अनुभव करता है वह सहज ही राग-द्वेष से बच जाता है। राग-द्वेष शून्य वर्तमान क्षण को देखने वाला नए कर्म-संस्कार के बंध का निरोध करता है।

वर्तमान को जानना और वर्तमान में जीना ही भावक्रिया है। यांत्रिक जीवन जीना, काल्पनिक जीवन जीना और कल्पना लोक में उड़ान भरना द्रव्यक्रिया है।

हम सभी अधिकांशत: भूत एवं भविष्य में जीते हैं वर्तमान को भूल जाते हैं जबकि वास्तविकता तो वर्तमान है। अतीत और भविष्य दोनों ही वास्तविक नहीं है। वर्तमान जब हाथ से छूट जाता है तब उसे पुन: पकड़ पाना असंभव है। वास्तविकता यह है कि जो कुछ घटित होता है वह नहीं रहता और प्राप्त को अप्राप्त स्वरूप प्रदान करा देता है।

भावक्रिया का दूसरा अर्थ है—जानते हुए करना (हम जो भी करते हैं वह पूरे मन से नहीं करते, मन के टुकड़े कर देते हैं। काम करते हैं पर मन कहीं भटकता रहता है। वह काम के साथ जुड़ा नहीं रहता। कार्य के प्रति सर्वात्मना समर्पित हुए बिना उसका परिणाम अच्छा नहीं आता। इसमें शक्ति अधिक क्षीण होती है, अनावश्यक व्यय होता है और काम पूरा नहीं होता। अत: हम जिस समय में जो काम करें, उस समय हमारा शरीर और मन दोनों साथ-साथ चलें।

भावक्रिया का तीसरा अर्थ है—सतत् अप्रमत रहना। साधक को ध्येय एवं मूल प्रयोजन के प्रति सतत् अप्रमत्त और जागरूक रहना चाहिए। ध्यान का पहला ध्येय है आत्म साक्षात्कार और मूल प्रयोजन है चित्त की निर्मलता। ध्यान का दूसरा प्रयोजन है सुप्त शक्तियों को जागृत करना। इन दोनों के प्रति सतत् जागरूक रहना भावक्रिया है।

7.2 प्रतिक्रिया विरति

उपसंपदा का दूसरा अर्थ है—क्रिया करना, प्रतिक्रिया न करना। जो व्यक्ति प्रतिक्रया का जीवन जीता है वह बाह्य वातावरण और परिस्थिति से प्रभावित होकर कार्य करता है। वह आवेग या उत्तेजना के वशीभूत होकर कार्य करता है। यह प्रतिक्रिया है, क्रिया नहीं। अध्यात्म साधना का अर्थ है—प्रतिक्रिया से बचना। साधक क्रिया करे प्रतिक्रिया नहीं। अन्यथा गाली के प्रति गाली, ईंट का जबाब पत्थर से, "शठे शाठ्यम समाचरेत्", 'Tit for Tat'—ये सब बातें चलती हैं। इन्हें रोका नहीं जा सकता। इन्हें केवल वही व्यक्ति रोक सकता है जिसने इस सच्चाई को समझ लिया है कि स्वतंत्र अस्तित्व का धनी व्यक्ति प्रतिक्रिया का जीवन न जीए अपितु क्रिया का जीवन जीए।

7.3 मैत्री

उपसंपदा का तीसरा सूत्र है मैत्री। साधक का पूरा व्यवहार मैत्री से ओत-प्रोत हो। उसमें मैत्री की भावना का पूर्ण विकास हो। आगम में आया है—

खामेमि सव्वजीवे, सव्वेजीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वैरं मज्झ न केणई।।

अर्थात् में सब जीवों को क्षमादान देता हूं, सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करें। सभी प्राणी मेरे मित्र हैं, कोई भी मेरा शत्रु या वैरी नहीं हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रेक्षाध्यान से आत्म-दर्शन, स्वयं का बोध होता है। दूसरे प्राणियों में स्थित आत्म तत्व का बोध होता है। इससे अनेकता में भी एकता की अनुभूति होती है। यहां भेद में भी अभेद ज्ञान पुष्ट होता है। साधक का व्यवहार मैत्रीपूर्ण बनता है अत: साधक साधना में जैसा स्वयं को देखे वैसे ही दूसरों में इस परम आत्म-तत्व को देखने का अभ्यास करे। मैत्री भावना का विकास करे।

7.4 मिताहार

उपसंपदा का चौथा सूत्र है—मिताहार। मिताहार का साधना से महत्त्वपूर्ण स्थान है। भोजन का प्रभाव केवल स्वास्थ्य पर ही नहीं होता, ध्यान और चेतना पर भी उसका प्रभाव होता है। **अनावश्यक किया हुआ भोजन पच नहीं पाता है क्योंकि उसे पचाने वाला रस पूरी मात्रा में नहीं मिल पाता है। भोजन इतना ही पचता है जितना उसे पाचक-रस प्राप्त होता है। शेष व्यर्थ हो जाता है।** इससे सड़ांध पैदा होती है। मल आंतों में जम जाता है, इससे सारा नाड़ी मण्डल दूषित हो जाता है। इससे मन और विचार भी दूषित होते हैं। चेतना पर आवरण आता चला जाता है। साधक को भोजन का पूरा ज्ञान होना चाहिए साथ ही कौन सा भोजन क्या परिणाम लाता है, उसका भी ज्ञान होना चाहिए। कहा गया है—जैसा खाए अन्न, वैसा बने मन। अत: हमें अपने सोचने की शक्ति को सम्यक बनाना होगा। साथ ही आहार के संपूर्ण स्वरूप पर भी ध्यान देना होगा। यहां आहार की गुणवत्ता एवं मात्रा दोनों ही प्रभावी कारक हैं।

7.5 मितभाषण

उपसंपदा का पांचवा सूत्र है—मितभाषण या मौन। बोलना इसलिए जरूरी होता है कि हम जनसंपर्क में हैं। बोले बिना रहा नहीं जाता किन्तु कम बोलना साधना है। इसका अर्थ यह नहीं कि जीवन भर मौन रहें। अनावश्यक न बोलें। बोलना पड़े तो धीमें बोले। यह मध्यम मार्ग अच्छा है। इससे व्यवहार भी नहीं टूटता और शक्ति का अनावश्यक व्यय भी नहीं होता। कम बोलना साधना का महत्वपूर्ण अंग है। इससे शक्ति संचित होती है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि प्रेक्षाध्यान साधना की एक सरल, सुव्यवस्थित पद्धति है जिसका उपयोग जीवन में कई संदर्भों के लिए किया जा सकता है।

बोध प्रश्न

1. वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

1. प्रेक्षाध्यान का नामकरण कब हुआ?
2. प्रेक्षाध्यान का अर्थ क्या है?
3. प्रेक्षाध्यान के सहायक अंग कितने हैं?
4. कायोत्सर्ग का अर्थ क्या है?
5. अनिमेष प्रेक्षा क्या है?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न—

1. प्रेक्षाध्यान का ध्येय बताइए।
2. प्रेक्षाध्यान के आध्यात्मिक आधार को स्पष्ट कीजिए।

3. निबंधात्मक प्रश्न—

1. प्रेक्षाध्यान के अंगों का स्पष्ट कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
2.0 भूमिका
3.0 आसन : एक परिचय
4.0 आसनों का प्रयोजन
5.0 आसनों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण
6.0 आसनों का आध्यात्मिक दृष्टिकोण
7.0 आसनों के प्रकार
8.0 आसनों की निष्पत्ति

1.0 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों! प्रथम वर्ष के द्वितीय पत्र के प्रथम अध्याय में आपने भारतीय योग, पातंजल योग एवं प्रेक्षायोग जीवन विज्ञान के बारे में जानकारी प्राप्त की। आपने जाना कि जीवन विज्ञान की साधना से हम अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो सकते हैं। साथ ही हमारे व्यक्तित्व का आमूल चूल परिवर्तन किया जा सकता है किन्तु कुछ प्रक्रियाएँ हैं, जिनको जाने बिना हम साधना के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सकते हैं। इनमें मुख्य हैं आसन और श्वास। आपके पाठ्यक्रम के इस द्वितीय अध्याय में इन्हीं दो मुख्य बिंदुओं पर हम चर्चा करने जा रहे हैं। श्वास हमारे जीवन का आधार है और आसन हमारे अस्तित्व का परिचय। आसन को योगासन के नाम से भी जाना जाता है और श्वास का संयमित रूप प्राणायाम भी अधिक प्रचलित रूप है। आसन और प्राणायाम परस्पर पूरक हैं। यही कारण है कि इन दोनों को एक साथ व्याख्यायित किया जा रहा है ताकि दोनों के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक पक्ष को तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ा जा सके। आसन के अध्ययन से आप—

1. आसन का परिचय एवं प्राचीन स्वरूप को जान सकेंगे।
2. आसन के प्रयोजन को समझ सकेंगे।
3. आसनों के आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
4. आसनों के महत्त्व एवं प्रकार को समझ सकेंगे।
5. आसनों से संबधित अनिवार्यताओं एवं सावधानियों को जान सकेंगे।
6. आसनों की निष्पत्तियों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

2.0 भूमिका

योग भारतीय धर्म साधना का मेरुदण्ड है। हमारी जीवन व्यवस्था और तत्त्व चिंतन योग पर प्रतिष्ठित है। डायसन के शब्दों में यह भारत के धर्म जीवन की सबसे विलक्षण वस्तु है। दार्शनिक दृष्टियों में परस्पर भेद होते हुए भी भारत के सभी ध र्म सम्प्रदाय योग पर समान रूप से आस्था रखते हैं। योग आत्म-विकास की प्रमुख साधना है। अनन्त शक्तियों को अनावृत्त करने, आत्म-ज्योति को ज्योतित करने तथा अपने लक्ष्य एवं साध्य तक पहुंचने के लिए मन, वचन और कर्म में एकरूपता, एकाग्रता, तन्मयता एवं स्थिरता लाने का नाम ही योग है। योग मानव मात्र को समुन्नत जीवन जीने की प्रेरणा देता है। महर्षि पतंजलि ने जन-साधारण को योग में प्रवेश कराने के लिए पातंजल योग दर्शन के दूसरे पाद में अष्टांग योग का वर्णन किया है। योग के आठ अंग आठ सीढ़ियों के समान हैं। यम और नियम का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के साथ सम्बन्ध है। आसन का अन्य सभी अंगों के साथ संबंध है। आसन के दृढ़ हुए बिना योग की सिद्धि नहीं होती। आध्यात्मिक तथा मानसिक उन्नति के साथ शारीरिक स्वास्थ्य सुधार के लिए भी योगासन पूर्णतया उपयोगी है। आसन के साथ प्राणायाम को भी उतना ही महत्व प्रदान किया गया है। आसन, प्राणायाम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अष्टांग योग की तरह का मिलता जुलता क्रम प्रेक्षाध्यान में मिलता है। इस अध्याय में हम आसन एवं प्राणायाम को विस्तार से जानेंगे। प्रेक्षाध्यान में आसन एवं प्राणायाम को सहायक अंग के रूप में स्वीकार किया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गया है। कहा गया है कि इन दोनों की साधना के बिना हम साधना में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। योगासनों से शरीर के अंग प्रत्यंग को पूर्णत: स्वस्थ रखा जा सकता है। पाचन, मल विसर्जन और उत्तम रक्त संचार के लिए योगासन जैसा अमूल्य साधन दूसरा नहीं है। आसनों की दूसरी विशेषता यह है कि जीविकोपार्जन के लिए शरीर में जो गति और क्षमता अपेक्षित है, वह आसनों से बड़ी सरलता से मिल जाती है। गति के अभाव में हमारे अनेक कार्य बिगड़ जाते हैं या असफल हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को यह समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार नौकरी, व्यावसायिक कला या शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षण तथा समय प्रबंधन की आवश्यकता रहती है उसी तरह योगासन के लिए भी प्रशिक्षण, समय आदि की आवश्यकता रहती है। योगासन से शरीर के साथ मन की एकाग्रता भी प्राप्त होती है। जिसे मन की एकाग्रता प्राप्त है वह एक प्रकार की अद्भुत शक्ति से युक्त होता है क्योंकि मन के नियंत्रण में ही समस्त शारीरिक क्रियाएँ कार्य करती हैं। मन की स्वतंत्रता, स्वास्थ्य और सुव्यवस्था ही मनुष्य को आत्म निर्भर बनाती है। योगासन किसी भी आयु का व्यक्ति कर सकता है। जैसे बालक, युवा, वृद्ध, पुरुष या महिलाएँ कोई भी विशेष सावधानियों को ध्यान में रखते हुए योगासन कर सकता है। आसन सभी के लिए लाभदायक सिद्ध होते हैं लेकिन कुछ आसन अवश्य ही स्त्री और पुरुष के लिए भिन्न-भिन्न विधि से किए जाने वाले होते हैं।

3.0 आसन : एक परिचय

भारतीय संस्कृति अध्यात्म प्रधान संस्कृति रही है जिसका कण-कण अध्यात्म से अनुप्राणित है। समय-समय पर अनगिनत ऋषि-मुनियों ने अपनी तप:पूत साधना के द्वारा इस संस्कृति की गरिमा में चार चांद लगाए हैं। पतंजलि ने अपनी अनुभूत वाणी से अष्टांग योग का निरूपण किया- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें से आसन-प्राणायाम के अभ्यास के लिए आत्म संयम की साधना बहुत आवश्यक है। इसीलिए पतंजलि ने यम-नियम की साधना पुष्ट होने पर ही आसन प्राणायाम करने का निर्देश दिया है, क्योंकि प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि में प्रवेश पाने के लिए आसन-प्राणायाम अनिवार्य सोपान है।

भगवान महावीर ने बारह वर्षों तक घने जंगलों में रहकर आत्म-अनुसंधान किया था। जैन आगमों में उल्लेख मिलता है कि भगवान महावीर ने अपने साधनाकालीन जीवन में अनेक आसनों का अभ्यास किया था। जब भगवान महावीर ने सत्य का साक्षात्कार कर लिया तब उन्होंने सम्पूर्ण मानव जाति को भी साधना में आगे बढ़ने के लिए दिशा-निर्देश दिया। भगवान महावीर ने भी आसन सिद्धि से पूर्व भोजन के संयम पर बल दिया है। वास्तव में आहार संयम करने वाला व्यक्ति ही इन्द्रिय संयम कर सकता है और वही आसन करने का अधिकारी बन सकता है। आसन का दृढ़ अभ्यास होने से ही ध्यान, कायोत्सर्ग अर्थात् समाधि की स्थिति को उपलब्ध किया जा सकता है।

3.1 आसन : अर्थ एवं परिभाषाएँ

आसन शब्द आ उपसर्ग और सन् धातु से बना है। आ से स्थिर और सन का अर्थ है बैठना। वस्तुत: जिस किसी भी सुविधाजनक स्थिति में व्यक्ति स्थिर होता है, उसे आसन कहते हैं।

महर्षि पंतजलि ने आसन की परिभाषा दी है—**स्थिरंसुखमासनम्**। अर्थात् सुखपूर्वक बैठना आसन है। यह आसन सिद्ध करने के लिए भी उन्होंने कहा है कि **"प्रयत्न शैथिल्यानन्तसमापतिभ्याम्"**। अर्थात् आसनों की सिद्धि प्रयत्न की शिथिलता और परमात्मा में मन लगाने से हो सकती है। इससे शरीर की अस्वाभाविक स्थिति न बनाते हुए सीधा और स्थिर सुखपूर्वक बैठकर परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए।

"मनोनुशासनम्" में आसन शब्द को विश्लेषित करते हुए आचार्य श्री तुलसी ने कहा है **"शरीरस्य स्थिरत्वापादनंआसनम्"** अर्थात् शरीर को स्थिर कर बैठना आसन कहलाता है। दूसरे शब्दों में निश्चल और सुखकर बैठना ही आसन है।

सुश्रुत ने कहा है—**शरीराचासजनकं कर्म व्याम संक्षिप्तम्**। अर्थात् शरीर में परिश्रम उत्पन्न करने वाला कर्म को आसन कहा है। आसन का अर्थ है सजग एवं सहज होकर संगीतमय जीवन में प्रविष्ट होना। चेतना को जागृत कर जीवन को लयबद्ध एवं संगीतमय बना लेना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

योगासन और व्यायाम में अन्तर

योगासन और व्यायाम में मौलिक अन्तर है। एक्सरसाइज अथवा बॉडी-बिल्डिंग से शरीर की मांसपेशियां एवं कुछ अवयव ही पुष्ट बनते हैं। उनकी पुष्टता एक बार मांसपेशियों के उभार के रूप में सामने आती है पर अन्त में उनमें कड़ापन आने लगता है। उनको छोड़ देने से मांसपेशियां ढीली पड़ जाती है और वे असुन्दर दिखाई देने लगती है। दूसरे प्रकार के व्यायाम, कुश्ती, दौड़, बैठकें एक बार तो शरीर की मांसपेशियों को प्रभावित को प्रभावित करते हैं किन्तु स्थायित्व की दृष्टि से उनके भी अन्तिम परिणाम सुन्दर नहीं आते हैं। योगासन योगियों द्वारा खोजा गया अनूठा विज्ञान है। योगासन हाथ-पावों को ऊंचा -नीचा मात्र ही नहीं है अपितु इसके पीछे पूरा विज्ञान है। कौन-सा आसन किस अवयव पर क्या प्रभाव और क्यों होता है—इन सबकी प्रायोगिक व्याख्याएँ आज शोधकर्ताओं के पास उपलब्ध है।

4.0 आसनों का प्रयोजन

आसन केवल शारीरिक प्रक्रिया मात्र नहीं है वरन् उसमें अध्यात्म निर्माण के बीज छिपे हैं। आसन शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है। आस् धातु बैठने के लिए प्रयुक्त होती है। पतंजलि के अनुसार-स्थिर सुखमासनम् का अभिप्राय है जिससे स्थिरता और सुखपूर्वक ठहरा जा सके, वह आसन है। विधिपूर्वक लेटना, बैठना, खड़े रहना- तीनों मुद्राओं में आसन किए जा सकते हैं। आसन शरीर की क्रियाओं को व्यवस्थित ही नहीं बनाता, वाक् और मन को भी स्थिरता प्रदान करता है। वर्तमान युग में आसनों की उपयोगिता निर्विवाद सिद्ध है।

प्रेक्षा स्वरूप उपलब्धि की प्रक्रिया है। व्यक्ति मूढ़ता से बहिर्यात्रा करने लगता है। बहिर्मुखी वृत्ति ही व्यक्ति को स्वरूप से दूर ले जाती है। स्वरूप की दूरी आधि-व्याधि और असमाधि का कारण बनती है। प्रेक्षा साधना सर्वांगीण पद्धति है। इसमें जहां अध्यात्म के शिखरों की चर्चा है, वहां शरीर बुद्धि श्वास और प्राण-शुद्धि के लिए आसन और प्राणायाम का भी विधिवत् प्रशिक्षण दिया जाता है।

4.1 आसन और शक्ति-संवर्द्धन

संस्कार-शुद्धि के साथ संयम एवं शक्ति-संवर्धन के लिए आसन का अभ्यास किया जाता है। स्थिति एवं गति आसन के दो स्वरूप हैं। स्थिति गुप्ति और गति समिति है। इससे संस्कारों का विलय होता है। ध्यान के लिए स्थित आसन उपयोगी है। इसमें लम्बे समय तक ठहरा जा सकता है। पद्मासन, वज्रासन, सिद्धासन एवं सुखासन ये ध्यान-आसन है। स्थिति-आसन से मांसपेशियों को विश्राम मिलता है। विश्राम की यह स्थिति कायोत्सर्ग का एक प्रकार है। गति वाले आसनों में मांसपेशियों की पारस्परिक गति से शरीर को संतुलित बनाया जाता है। ये पेशियां जोड़ों को व्यवस्थित बनाती हैं तथा गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध संतुलन बनाए रखती हैं। इससे शक्ति का संवर्द्धन होता है। आसन-विजय साधना का आधार है। उसके अभाव में व्यक्ति दीर्घ ध्यान, कायोत्सर्ग, भावना-योग आदि का अभ्यास कैसे कर सकता है? आसनों का प्रयोग केवल शारीरिक ही नहीं आध्यात्मिक भी है। आसनों के अभ्यास से न केवल कायसंयम ही नहीं अपितु वाक और मन भी संयमित होता है। इससे शारीरिक स्वास्थ्य के साथ मानसिक तनाव मुक्ति सहज होती है। आसनों के नियमित अभ्यास से काया अन्तरंग यात्रा के उपयुक्त बन जाती है। बाह्यक्लेश एवं परीषह-विजय की क्षमता उत्पन्न होने लगती है।

4.2 आसन और स्वास्थ्य

आसन शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शांति एवं आध्यात्मिक विकास के लिए उपयुक्त भूमिका का निर्माण करते हैं। आसन अस्वस्थ व्यक्ति के लिए उपयोगी है तो स्वस्थ व्यक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान युग में कार्याधिक्य एवं व्यस्तता से मनुष्य अपने जीवन की उपयोगी एवं आवश्यक क्रियाओं का भी परित्याग कर देता है जिससे न केवल यह स्वास्थ्य से हाथ धोता है अपितु जीवन-विकास के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है। आसन से मानसिक प्रसन्नता के साथ-साथ शरीर के अवययों पर सीधा असर होता है। संधि-स्थल, पक्वाशय, यकृत, फेफड़े, हृदय, मस्तिष्क आदि सम्यक्तया अपना कार्य करने लगते हैं। आसन से मांसपेशियां सुदृढ़ एवं सुडौल बनती है जिससे पेट एवं कमर का मोटापा दूर होता है। चर्बी भी आसन से स्वयं कम होने लगती है, आसन करने से शरीर के सभी अंग एवं कोशिकाएँ सक्रिय हो जाती है, जिससे रोग-प्रतिकार की क्षमता एवं स्वास्थ्य उपलब्ध होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आसन–विजय — आसन से शरीर की सुघड़ता और सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है। साथ ही मानसिक शांति और निश्चिन्त जीवन की उपलब्धि होती है। आसन करने का उद्देश्य है- शरीर के यंत्र को साधना के अनुरूप बनाना। शरीर का प्रत्येक अवयव सक्रिय एवं स्वस्थ बनें, यह स्वास्थ और साधना दोनों दृष्टियों से अपेक्षित है। यह निर्विवाद है कि काया की क्षमता के अभाव से वाक् और मन शीघ्र उत्तेजित हो जाते है। वाक् और मन पर संयम से पूर्व काय-संयम आवश्यक है। उसके लिए आसन प्रक्रिया सम्यग् अनुष्ठान है।

इन मुख्य प्रयोजनों के अतिरिक्त आसन के एक नहीं, अनेक उद्देश्य हैं जो निम्न प्रकार हैं —

1. शारीरिक स्वस्थता को बनाए रखने हेतु
2. शरीर को साधनानुकूल बनाने हेतु
3. शरीर को लचीला बनाने हेतु
4. शारीरिक सक्रियता को बनाये रखने हेतु
5. बीमारियों को दूर करने हेतु
6. शारीरिक सौन्दर्य की अभिवृत्ति हेतु
7. मन एवं मस्तिष्क को शक्तिशाली बनाने हेतु
8. स्फूर्ति बनाये रखने हेतु
9. चिर यौवन को बनाये रखने हेतु
10. अतिरिक्त चर्बी को कम करने हेतु
11. जीवन शक्ति में अभिवृद्धि हेतु
12. लम्बी आयु बनाये रखने हेतु
13. आलस्य को दूर करने हेतु
14. ग्रंथितंत्रीय संतुलन हेतु
15. नाड़ी-तंत्रीय संतुलन हेतु।

योगासन प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयोगी है। शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक स्वास्थ्य प्राप्ति का यह सरलतम साधन है। अनेक प्रकार के रोग योगासनों से दूर होते हैं। स्वस्थता चाहने वाले व्यक्ति को प्रतिदिन योगासनों का अभ्यास करना चाहिए। योगासन स्वास्थयोपयोगी तो है ही साथ ही आध्यात्मिक जीवन के लिए भी उपयोगी है। आसन के द्वारा हम शरीर में हो रही प्रत्येक गतिविधि को सक्रिय करते हैं। यदि शरीर के प्रत्येक अंग जागरूकता के साथ कार्य करेंगे तब व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से बीमार नहीं हो सकता साथ में मानसिक रूप से भी स्वस्थ रहेगा। भावनात्मक स्वास्थ्य के द्वारा वह अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा।

5.0 आसनों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

प्रेक्षाध्यान में आसन, प्राणायाम, मुद्रा और यौगिक क्रियाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। जब तक आसन नहीं सधता, मुद्रा ठीक नहीं होती-ध्यान की पूर्व तैयारी ही नहीं हो पाती। बिना आसन साधे ध्यान में बैठ जाने वाले का शरीर स्थिर नहीं रह पाता जो कायोत्सर्ग की पहली शर्त है। शरीर का शिथिलीकरण नहीं होता तो कायोत्सर्ग नहीं होता। ये दोनों हुए बिना चैतन्य के प्रति जागरूकता आ ही नहीं सकती क्योंकि चित्त शरीर की अस्थिरता और चंचलता में ही अटका रह जाता है। मुद्राओं का भावों के साथ सीधा सम्बन्ध है। जैसे भाव वैसी मुद्रा और जैसी मुद्रा वैसा ही भाव का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इसलिए ध्यान के लिए आसन, मुद्रा और यौगिक क्रियाएँ विज्ञान-सम्मत अनिवार्यताएँ हैं।

5.1 अस्थि-तंत्र

हमारा शरीर हड्डियों का ढांचा है। वह सारे शरीर का बोझ उठाए हुए हैं। **व्यक्ति के शरीर में इन अस्थियों की संख्या 206 होती हैं।** बच्चों में इनकी संख्या अधिक होती है। अस्थियों में जगह-जगह जोड़ है जिनसे हम शरीर के उस भाग को आसानी से मोड़ सकते हैं जिस तरह दरवाजे को कई दिन न खोला जाए तो उसके कब्जे को जंग पकड़ लेता है और दरवाजा आसानी से नहीं खुलता। इसी तरह शरीर के जोड़ों को प्रारम्भ से ही आसन आदि के द्वारा स्वस्थ नहीं रखा जाए तो वे भी जल्दी ही कड़े

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होकर दु:खने लग जाते हैं। जोड़ों का दर्द आज के विश्व की एक बड़ी बीमारी है। आसन करने से जोड़ स्वस्थ बने रहते हो और वहां शरीर से स्राव पहुंचते रहते हैं जिनसे उनके मुड़ने में मदद मिलती है। हड्डियां स्वस्थ और मजबूत बनी रहने से हमारी रोग-प्रतिरोधक शक्ति भी बनी रहती है क्योंकि अनेक आवश्यक तत्व शरीर को हमारी अस्थि-मज्जा से प्राप्त होते हैं। रीढ़ की हड्डी में साईकल के चेन की तरह अनेक हड्डियां मिली हुई होती हैं जो इस हड्डी को लचीला बनाती हैं। इस हड्डी का लचीलापन स्वास्थ्य की निशानी है। आसन प्राणायामों के माध्यम से रीढ़ की हड्डी की लम्बी उम्र तक लचीला बनाकर रखा जा सकता है।

5.2 मांसपेशी तंत्र

हमारे शरीर में अस्थितंत्र तथा अन्य अवयवों की सुरक्षा के लिए मांसपेशियां बनी हैं। ये मांसपेशियां शरीर के हलन-चलन में सहायक है। ये दो प्रकार की हैं—ऐच्छिक और अनैच्छिक। ऐच्छिक मांसपेशियां को हम अपनी इच्छानुसार काम में लेते हैं और अनैच्छिक स्वयं ही संचालित होती है। **मांसपेशियों की कुल संख्या 519 हैं इसमें 451 तो अस्थियों के संचालन में सहायक है। बाकी 68 आंख, कान जीभ आदि अवयवों से सम्बन्धित है।** अनैच्छिक मांसपेशियां हृदय, फेफड़े, रक्त-खण्डों और पूरे पाचन-तंत्र में फैली हुई हैं। इन मांसपेशियों पर आसनों और यौगिक क्रियाओं का जबरदस्त प्रभाव पड़ता है। अगर मांसपेशियां ढीली पड़ जाती हैं तो शरीर भी बूढ़ा दीखने लगता है। मांसपेशियां स्वस्थ हों तो सुन्दरता अपने आप आ जाती है। ज्यादातर मांसपेशियां अस्थि तंत्र को बांधकर रखती है और अस्थियों के हलन-चलन में सहायक होती है। अगर मांसपेशियों में लचीलापन नहीं है तो शरीर का हलन-चलन ठीक नहीं होगा। शरीर अकड़ जाने से शरीर की पूरी क्षमता लगाकर भी उस शरीर को नहीं मोड़ सकते। शरीर की अकड़न बुढ़ापे की निशानी हैं आसन करने से इन सब में सुधार आता है। अनैच्छिक मांसपेशियां भी स्वस्थ होने पर शरीर के पाचनतंत्र, आंख, हृदय, कान, जीभ आदि को अधिक सक्रिय बनाकर पूरे शरीर को स्वस्थ बनाती है। जब आसन किए जाते हैं तो उसके साथ भाव भी कार्य करते हैं और हमारे भावों के अनुरूप मांसपेशियां बननी प्रारंभ हो जाती है।

5.3 पाचन तंत्र

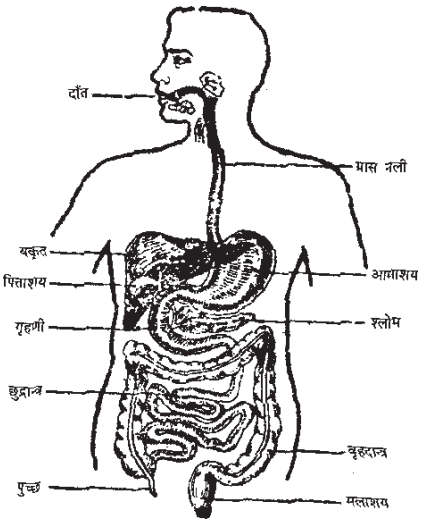

खाए हुए भोजन को पचाने में पाचन तंत्र की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अत: अनुमान लगाया जा सकता है कि पाचन तंत्र की स्वस्थता वास्तव में आवश्यक है। इसे स्वस्थ रखने में आसन बहुत उपयोगी होते हैं। आसनों और यौगिक क्रियाओं से पाचनतंत्र का सम्यक् व्यायाम होता है। कहा जाता सकता है कि व्यायाम से भी यह काम किया जा सकता है किन्तु जहां व्यायाम से 3 से लेकर 14 कैलोरी ऊर्जा खर्च होती है वहां आसानों से दशमलव शून्य व कायोत्सर्ग से दशमलव शून्य 3 कैलोरी ऊर्जा ही खर्च होती है। आमाशय, यकृत, छोटी आंत, अग्नाशय आदि सभी पाचन और विसर्जन-तंत्र आसनों और यौगिक क्रियाओं से प्रभावित होते हैं। साथ ही वे जीवन भर स्वस्थ एवं लचीले बने रहते हैं जबकि व्यायाम से वे कड़े पड़ जाते हैं और आगे चलकर स्वास्थ्य को हानि पहुंचाते हैं। अत: शरीर एवं पाचन तंत्र को स्वस्थ रखने में आसन अधिक उपयोगी होते हैं।

5.4 रक्त परिसंचरण तन्त्र

रक्त परिसंचरण तंत्र का कार्य पूरे शरीर में रक्त का संचार करना है। इसी के द्वारा शरीर की प्रत्येक कोशिका को आवश्यक तत्व प्राप्त होते हैं तथा अनावश्यक तत्वों का निष्कासन होता है। इसी कारण रक्त परिसंचरण तंत्र भी अपने आप में महत्त्वपूर्ण तंत्र है। अत: इस तंत्र की स्वस्थता भी आवश्यक है। आसनों और यौगिक क्रियाओं के द्वारा हृदय तथा रक्तवाहिनी नलिकाएँ स्वस्थ एवं लचीली बनी रहती हैं जिससे रंक्त संचार पूरे शरीर में समुचित मात्रा में होता है। इसलिए आसन करने और संयम से जीने से उच्च अथवा निम्न रक्त-चाप जैसी बीमारियों से बचा जा सकता है।

5.5 नाड़ी-तंत्र

नाड़ी तंत्र पूरे शरीर में जाल की भांति रहता है। इसके दो भाग होते हैं-ज्ञानवाही एवं क्रियावाही। ज्ञानवाही का कार्य है संवेदना का अनुभव कराना तथा क्रियावाही का कार्य है संवेदना के अनुरूप क्रिया करना। आधुनिक आयुर्विज्ञान के अनुसार मेरुदण्ड के भीतर मेरु-रज्जु केन्द्रीय नाड़ी संस्थान का महत्वपूर्ण घटक है। योगशास्त्र के अनुसार रीढ़ की हड्डी के भीतर से तीन मुख्य नाड़ियां

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्राण-प्रवाह गुजरते हैं—इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। इन नाड़ियों को प्राणायाम के माध्यम से स्वस्थ और सक्रिय रखा जाता है। आसन-प्राणायाम के माध्यम से न्यूरोन्स को अधिकतम विश्राम दिया जा सकता है और उनकी उम्र बढ़ाई जा सकती है। इस तरह हमारी स्मरण-शक्ति लम्बे समय तक न सिर्फ बनी रहती है बल्कि सबल भी बनी रहती है। चिन्तन और कल्पना के सही तरीके के कारण व्यक्ति की कार्यकुशलता भी बढ़ जाती है। रीढ़ की हड्डी और मस्तिष्क सम्बन्धी अनेक बीमारियों से बचाव होता है।

5.6 अन्तः स्रावी ग्रंथितंत्र

शरीर में कुछ महत्त्वपूर्ण अंतःस्रावी ग्रंथियां होती हैं। इन ग्रंथियों से निकलने वाला स्राव हॉरमोन कहलाता है। ये हारमोन व्यक्ति के व्यवहार के लिए उत्तरदायी होते हैं। कहा जाता है जैसा स्राव होता है वैसा ही भाव और वैसा ही व्यवहार भी होता है।। स्राव संतुलित होने से भाव भी संतुलित एवं सकारात्मक होते हैं तथा स्रावों के असंतुलन से भाव असंतुलित एवं निषेधात्मक बनते हैं। आसनों, यौगिक क्रियाओं, मुद्राओं और प्राणायाम का प्रभाव ग्रंथितंत्र पर पड़ता है। निषेधात्मक भावों की जगह विधेयात्मक भाव लेते हैं और इस तरह हमारा भावनात्मक स्वास्थ्य अच्छा होता है। दीर्घ-श्वास-प्राणायाम के अभ्यास से तमाम निषेधात्मक भावों का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। दीर्घ-श्वास-प्रेक्षा से भावों का शमन होता है और आसनों से ग्रन्थि स्राव संतुलित होते हैं। इस तरह अन्तः स्रावी ग्रंथियों पर आसनों प्राणायाम आदि का असर स्पष्टतया दीखता है।

आज का आयुर्विज्ञान बहुत ही उन्नत है। आयुर्विज्ञान ने आसनों का अनेक रोगों पर प्रयोग किया और पाया कि जहां अनेक दवाएँ काम नहीं करती वहां आसनों से फायदा होता है। इन्हीं प्रयोगों के आधार पर आयुर्विज्ञान ने एक नवीन शाखा का उद्‌भव किया जिसे 'फीजियोथेरोपी' कहा जाता है। आज विश्व में प्रायः सभी रोगों में आसन के महत्व को स्वीकार किया गया है और वे अपने प्रचार-तंत्र द्वारा आसनों का खुल कर प्रचार कर रहे हैं। अध्यात्म, चेतना की अन्तरंग अभिव्यक्ति है। व्यक्ति अपनी अनुभूतियों से गुजर कर आनन्द को उपलब्ध होता है। साधनों की विविध परम्पराओं ने उसके लिए व्यक्ति का मार्गदर्शन किया है। विज्ञान ने मनुष्य को जहां सुख-सुविधा के लिए साधन दिये हैं, वहां मानसिक तनाव और शारीरिक अस्वास्थ्य का अभिशाप भी दिया है। जो देश जितना आधुनिक यन्त्रों से सुसज्जित हुआ, वह देश स्नायविक तनाव से ग्रसित ओर मानसिक व शारीरिक दृष्टि से रुग्ण बना। भारतीय अभी भी पूर्ण आधुनिक नहीं है फिर भी ज्यों-ज्यों यंत्रों के साधनों का विकास यहां हो रहा है, मानसिक तनावों के दोष विकसित होते जा रहे हैं। व्यक्ति चिन्ता, भावुकता, परेशानियों से घिरता जा रहा है जिससे उसका जीवन तनावग्रस्त होने लगा है। तनाव से ग्रसित व्यक्ति केवल मानसिक दृष्टि से ही पीड़ित नहीं होता बल्कि शारीरिक दृष्टि से भी रुग्ण व पीड़ित होता है। मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के उपलब्ध होने का सरल और सहज मार्ग योगासन है। योगासन जहां साधना की सिद्धि में सहयोगी बनते हैं वहां शारीरिक स्वास्थ्य एवं मानसिक प्रसन्नता के लिए वरदान बनते है। योगासनों से सुख-दुख, लाभ-अलाभ आदि द्वन्दों का शमन होता है। कष्ट-सहिष्णुता एवं माध्यस्थ्य वृत्ति भी विकसित होने लगती है। आसन शरीर के अवयवों, मांसपेशियों, स्नायु-मण्डल को सक्रिय, शक्तिशाली एवं संतुलित बनाने के लिए उपयोगी है। आसनों के असंख्य प्रकार हैं। जीवों की जितनी योनियां हैं, उनके शरीर के जो आकार हैं, उन सबको आसन की संज्ञा दी जा सकती है। शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक शान्ति की दृष्टि से उपयोगी आसनों की विधि एवं चर्चा ही यहां उपयुक्त रहेगी। योगासन प्रारम्भ करने से पूर्व कुछ आवश्यक संकेत माननीय है जिनसे योगासन का पूर्ण लाभ उठाया जा सकता है।

6.0 आसनों का आध्यात्मिक आधार

आसन हमारे शरीर व मन दोनों को प्रभावित करता है। चूंकि हमारे शरीर और मन का आपस में अन्योन्याश्रित संबंध है। शरीर की स्वस्थता और अस्वस्थता का प्रभाव मन पर पड़ता है तथा मन की प्रसादता और विषादता का प्रभाव शरीर पर अभिव्यक्त होता है। अतः मनः और शरीर दोनों अविनाभाव से जुड़े हुए हैं। आसन सिद्धि से कायिक स्थिरता सधती है। जब शरीर स्थिर होता है तो मन भी निस्तरंग स्थिति में प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर साधक आगे की भूमिकाओं में आरोहण करता है। जब हम सूक्ष्मता से अनुचिंतन करते हैं तो यह तथ्य उभर कर हमारे सामने आता है कि प्राचीन काल में ऋषि मुनि पहाड़ों की गुफाओं व कंदराओं में रहते थे जिससे उनकी मैत्री का विस्तार अथाह था। उनके रोम-रोम में अहिंसा जागृत रहती थी। कहा भी है—अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। अर्थात् अहिसा के साथ तादात्म्य भाव स्थापित हो जाने से कोई भी उसका वैरी नहीं रह जाता है। उनका सभी प्राणियों, पशु-पक्षियों से भी तादात्म्य हो जाता था। ऋषि-मुनियों ने स्वस्थता के लिए पशु-पक्षियों की मुद्राओं को अपने जीवन में उतारा और उसी अनुभव के आधार पर उन्होंने आसनों का नामकरण रखा। जैसे भुजंगासन, मयूरासन,

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मत्स्यासन, कूर्मासन, गरुड़ासन शलभासन आदि। अध्यात्म प्रचेता ऋषि प्राकृतिक सौंदर्य का भी भरपूर रसास्वादन करते थे। इसीलिए उन्होंने धनुरासन, हलासन, नौकासन, पर्यकासन आदि आसनों को संसूचित किया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आसन हमारे शारीरिक मानसिक और भावनात्मक स्वस्थता के आधार बिन्दु है।

आत्मा से साक्षात्कार के लिए योग एक वैज्ञानिक कला है जिसमें प्रवेश हेतु प्रथम सीढ़ी है योगासन। प्रत्येक विज्ञान का क्रियात्मक ज्ञान उससे संबंधित प्रयोगशाला से प्राप्त होता है जहां उसे अनुकूल सब द्रव्य और उपकरण उपस्थित होते हैं तथा उन द्रव्यों के संश्लेषण-विश्लेषण से भी जब हम परिचित होते हैं। हमारा शरीर ही योग की प्रयोगशाला है। शरीर में मन, बुद्धि चित्त, अहंकार ये साधन यंत्र रूप है। अभ्यास और वैराग्य यंत्रों के यथार्थत: प्रयोग में सहायक होते हैं। योग विज्ञान की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि निसंदेह की प्रयोगशाला को सुव्यवस्थित रखा जाए और यंत्रों का कुशलतापूर्वक यथार्थ प्रयोग किया जाए। योग में प्रविष्ट होने के लिए आवश्यक है कि देह शुद्ध और स्वस्थ हो, भोजन शुद्ध, सात्विक व स्वस्थ हो। श्रद्धा, विश्वास, अभिप्सा और पिपासा हो।

जैन परम्परा में मन की स्थिरता के लिए आसनों का प्रारंभ से अभ्यास किया जाता रहा है। जिस आसन में मन स्थिर हो वही आसन विहित है। भगवान महावीर स्वयं उकडु आदि आसनों में स्थित और स्थिर होकर ध्यान करते थे। आसन तपस्या का एक प्रकार है। कायक्लेश के अन्तर्गत उसका समावेश किया जाता है। आत्मा के लिए सुखकर वीरासन आदि उत्कट आसनों का जो अभ्यास किया जाता है उसे कायक्लेश कहते हैं। जैन योग में आसनों का दूसरा नाम स्थानयोग भी आता है। स्थान योग के भी तीन प्रकार हैं—ऊर्ध्वस्थान, निषीदन स्थान और शयन स्थान। कहा है-साधक को ऊर्ध्व स्थान कर कायोत्सर्ग करना चाहिए। वह कायिक दु:खों की तितिक्षा, सुखासक्ति की हानि और धर्म प्रभावना के लिए कायक्लेश में अपने आप को नियोजित करे।

बोध-प्रश्न

1. भारतीय धर्म-साधना का मेरुदण्ड क्या है?
2. आसन शब्द का अर्थ बताइये।
3. स्वरूप-उपलब्धि की प्रक्रिया क्या है?
4. मांसपेशियां कितने प्रकार की होती हैं?
5. नाड़ी-तंत्र के कितने भाग हैं?

7.0 आसनों के प्रकार

महर्षि घेरण्ड ने कहा- संसार में जितने जीवों की योनियां हैं, उतने ही आसन होते हैं। जीव की योनियां 84 लाख मानी गई हैं। आसन भी 84 लाख होते हैं। इनमें भी 84 आसन श्रेष्ठ माने गए हैं। इनमें भी 32 आसन अति विशिष्ट अधिक शुभ समझने चाहिए। घेरण्ड मुनि के अनुसार आदिनाथ ने पहले 84 लाख आसन बताए क्योंकि संसार में प्राणियों के भी इतने ही प्रकार होते हैं। हर प्राणी में कुछ न कुछ विशेषता होती है। जैसे कुत्ते में घ्राण शक्ति तेज होती है तो गिद्ध में दृष्टि तेज होती है। जानवरों के शरीर के आकार और स्वभाव की भावना करने और तद्रूप बनने से उनके गुण आ ही जाते हैं किन्तु इतने आसनों पर काम करना सम्भव न जानकर 84 आसन विशिष्ट समझकर छांटे गये। उनमें भी 32 आसन अति विशिष्ट मानकर तय किये गये। इस तरह हम देखते हैं कि आसनों की महत्ता हमारे अति प्राचीन योग-ग्रंथों में भी पाई जाती है।

अध्यात्म में प्राणधारा का मूल आधार सात चक्रों को माना गया है। ये सभी चक्र मस्तिष्क से लेकर रीढ़ की हड्डी के अन्तिम छोर तक फैले हुए हैं। नई खोजों से पता चलता है कि पूरे शरीर में अनेकों चेतना-केन्द्र फैले हुए है फिर भी चक्रों, विज्ञान की अन्त:स्रावी ग्रंथियों और प्रेक्षाध्यान के चैतन्य-केन्द्रों की तुलना करने पर लगता है कि ये भिन्न नाम होते हुए भी एक ही प्रयोग सिद्ध सत्य का उद्घाटन करने वाले हैं। आसनों के द्वारा इन चैतन्य-केन्द्रों को प्रभावित करके शक्ति का ऊर्ध्वारोहण किया जा सकता है। शक्ति का ऊर्ध्वारोहण होने से जीवन के लक्ष्य और प्रेरणाएँ पशु स्तर से ऊपर उठकर सम्यक् ज्ञान व दर्शन से प्रभावित होती है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन से प्रभावित व्यक्ति अपने लक्ष्य की ओर जब कदम बढ़ाता है तो उसका चरित्र भी उसी के अनुरूप हो जाता है। उसकी संकल्पशक्ति दृढ़ हो जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इसी साधना क्रम को अष्टांग योग ने 8 (आठ) अंगों में विभाजित किया है जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार—ये पांच बहिरंग योग कहलाते हैं और धारणा, ध्यान और समाधि- ये तीन अंतरंग योग कहलाते हैं। इसी तरह का मिलता जुलता क्रम जैन ध्यान-पद्धति में भी है। जैसे अनशन उनोदरी, वृत्ति संक्षेप, रस-परित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता- ये छह बहिरंग है। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ये छः अन्तरंग हैं। यम-नियमों को जैन योग में संवर के अन्तर्गत और उपर्युक्त 12 को निर्जरा के अंतर्गत लिया है। उद्देश्य दोनों का ही कैवल्य प्राप्त करना है। इस तरह स्पष्ट नतीजे पर पहुंचते हैं कि जहां योग और ध्यान साधना का सम्बन्ध है वहां कहीं भी प्रयोगसिद्ध सच्चाई ही मान्य है।

7.1 आसन की श्रेणियाँ

1. शयन स्थान—लेटकर किये जाने वाले आसन ।
2. निषीदन स्थान—बैठकर किये जाने वाले आसन।
3. ऊर्ध्व स्थान—खड़े होकर किए जाने वाले आसन।

शरीर को विधिवत् स्थिर बनाकर रखना स्थान (आसन) कहलाता है। यह कायगुप्ति है। कायगुप्ति शरीर का संयम है। यह तीनों प्रकार से हो सकता है। लेटकर, बैठकर और खड़े होकर—तीनों प्रकार से आसन को सिद्ध किया जा सकता है। आसन की सिद्धि सरलता से प्राप्त की जा सके, इसलिए सर्वप्रथम शयन-स्थान से आसन का प्रारम्भ करना शरीर-विज्ञान की दृष्टि से उपयोगी है। बच्चा प्रारम्भ से लेटकर क्रिया करता है, फिर बैठता और फिर खड़े होकर अपनी यात्रा करता है। अतः आसन का क्रम भी शयन, निषीदन और ऊर्ध्व-स्थिति क्रम से रखा गया है। शयन स्थान के अंतर्गत आसनों का विवरण दिया गया गया है। लेटने पर जो-जो अंग प्रभावित होते हों, उनको लक्षित कर शयन-आसनों का चुनाव किया गया है। शयन-स्थान पीठ के बल और पेट एवं सीने के बल लेटकर किये जाते हैं। वे निम्नानुसार हैं—

1. शयन स्थान-लेटकर किये जाने वाले आसन

1. सुप्ताड़ासन 2. उत्तानपादासन 3. अर्ध पवन मुक्तासन पूर्ण पवन मुक्तासन
4. सर्वांगासन 5. हलासन 6. मत्स्यासन 7. हृदयस्तम्भासन

पेट के बल करणीय आसन—

1. भुजंगासन 2. अर्द्धशलभासन, पूर्णशलभासन 3. मकरासन 4. धनुरासन

2. निषीदन स्थान—बैठकर किए जाने वाले आसन—

1. शशांकासन 2. सुप्त वज्रासन 3. जानुशिरासन 4. पश्चिमोतानासन
5. उष्ट्रासन 6. अर्द्धमत्स्येन्द्रासन 7. सिंहासन 8. पद्मासन 9. योगमुद्रा

3. उर्ध्वस्थान-खड़े होकर किए जाने वाले आसन—

1. त्रिकोणासन 2. इष्टवंदन (सूर्य नमस्कार)।

विशिष्ट आसन—

1. शीर्षासन 2. अर्ध शंखप्रक्षलन 3. मयूरासन 4. चक्रासन

7.2 आसन के लिए अनिवार्यताएँ

आसन का अभ्यास धीरे-धीरे करना चाहिए। यदि किसी स्थान पर दर्द हो तो वहां पर जोर नहीं लगाना चाहिए। आसन करते समय शरीर में अकड़न न हो। शरीर को शिथिल कर आसन करने चाहिए। यदि आसन की कोई क्रिया न हो तो उसके साथ जबरदस्ती नहीं करनी चाहिए। आसन का प्रारंभ एक मिनट से लेकर प्रति सप्ताह बढ़ाते हुए 10 मिनट तक बढ़ाना चाहिए।

7.2.1 आसन एवं उपयुक्त समय

योगाभ्यास कभी भी शुरू किया जा सकता है लेकिन शरद ऋतु से प्रारंभ करने को सर्वोत्कृष्ट काल माना गया है। शौचादि से निवृत्त होकर प्रातः काल का समय योग क्रिया के लिए श्रेष्ठतम है। कोई व्यक्ति इसे शाम को या किसी अन्य समय में भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कर सकता है पर इसकी शर्त यह है कि योगाभ्यास प्रारंभ करने से 3-4 घंटे पहले कुछ भी खाया पीया नहीं होना चाहिए। यदि इससे पहले करते हैं तो पाचन क्रिया में दबाव पड़ेगा जिससे लाभ की जगह हानि हो जायेगी।

7.2.2 आसन एवं उपयुक्त स्थान

योगासनों का अभ्यास करने के लिए समतल भूमि का होना आवश्यक है। उसमें कांटे, कंकड़ आदि न हों और न ही वह गीली हो। यदि निकट में जल सुविधा हो तो ठीक है। स्थान खुला हुआ या बरामदे के रूप में रहे जिसमें वर्षा आदि से बचाव हो सके परन्तु स्वच्छ वायु और धूप अवश्य आती हो। आसन जहां तक हो सके एकान्त स्थान में करने चाहिए। जिस कमरे में आसन किए जाए, वहां शुद्ध वायु के लिए खिड़की रोशनदान खुले रखने चाहिए। मिट्टी के तेल की रोशनी में आसन नहीं करने चाहिए। बिजली, सरसों का तेल अथवा मोमबत्ती का प्रयोग करना चाहिए।

आज वैज्ञानिक युग में गांवों से शहरीकरण हो गया है। वहां खुली जगह का अभाव रहता है फिर भी व्यक्ति को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जहां पर आसन करें वहां पर अत्यधिक प्रदूषण अथवा दूषित वायु तो नहीं है। आज के युग में शहरों में हरियाली पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इसलिए अच्छा है कि जहां चारों ओर हरियाली हो वहीं पर आसन करने चाहिए जिससे पर्याप्त मात्रा में आक्सीजन प्राप्त हो सकती है।

7.2.3 आसन एवं उपयुक्त वस्त्र

आसन करते समय वस्त्रों का भी ध्यान रखना चाहिए। योगासन करते समय आवश्यक वस्त्र धारण करना चाहिए। वस्त्र ढीले-ढाले हों ताकि आसनों में रुकावट पैदा न करें। साथ ही आसन करते समय शरीर में रक्त का संचार अच्छी तरह हो सके एवं मांसपेशियां अच्छी तरह कार्य करने में सक्षम एवं परिपुष्ट हो सकें। जमीन पर दरी या मोटी चादर या कम्बल बिछाकर योगाभ्यास करना उत्तम है।

7.2.4 आसन एवं उपयुक्त भोजन

कहा जाता है कि जैसा अन्न खाया जाता है वैसा ही मन भी होता है। कहने का तात्पर्य है कि भोजन का हमारे आचार-व्यवहार पर भी प्रभाव पड़ता है। भोजन से स्वास्थ्य तो प्रभावित होता है और उसी के अनुरूप मन भी होता है। अर्थात् मन पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। भोजन में सावधानी बरतना व्यक्ति के समग्र स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। अत: भोजन ऐसा हो जो शरीर की सप्त धातुओं को पुष्ट करे और मन को अच्छा लगे। यदि मन को अच्छा नहीं लगेगा तो उदर पोषण के योग्य आहार करना भी कठिन हो जायेगा। कई बार मन को अच्छा न लगने वाला भोजन भी स्वास्थोपयोगी होता है। अत: भोजन की उपयोगिता को ध्यान में रखकर भोजन का चुनाव करना चाहिए। आयुर्वेद के अनुसार सप्त धातुएँ हैं-अस्थि, मांस, मज्जा, मेद, रक्त, एवं शुक्र। इन धातुओं को स्वस्थ रखने के लिए भोजन का विवेक महत्त्वपूर्ण है। ध्यान-योग के संदर्भ भोजन का विवेक और भी महत्त्वपूर्ण है। गेहूं, और जौ आदि का भोजन भी योग सिद्धि में उपयुक्त बतलाया गया है। साथ में दूध, घृत, खांड, मक्खन, मिश्री, मधु, सौंठ, परबल, फल, शाक, मूंग आदि एवं दिव्य जल के पदार्थ योगियों के लिए पथ्य है। जो व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करना चाहता है, उसे आसन का अभ्यास करना चाहिए। उसके लिए आवश्यक है कि व्यक्ति सात्विक भोजन करे। भोजन का मन पर प्रभाव पड़ता है। यदि हम अत्यधिक गरिष्ठ भोजन करेंगे तो मन आलस्य, प्रमाद, रोग से ग्रस्त हो जायेगा। साधना के बाधक तत्वों को दूर करने के लिए भोजन के प्रति जागरूक होना आवश्यक है अन्यथा रजोगुण और तमोगुण में वृद्धि होने की संभावना बढ़ जाती है। इससे साधना और स्वास्थ्य दोनों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि हम सात्विक, अच्छा और सुपाच्य भोजन के द्वारा सत्व गुण को वृद्धिंगत करें जो कि हमारी साधना की उत्कृष्टता में चार चांद लगाने वाला सिद्ध हो सकता है।

7.2.5 आसन एवं उपयुक्त मन:स्थिति

मन बहुत चचंल होता है। अत: इसे अपने वश में रखना ही सफलता का राज है। योग की प्रक्रिया मन को प्रशिक्षित करने की प्रक्रिया है। अत: योगाभ्यास करते समय मन में कोई दुर्विचार या तनाव नहीं होना चाहिए। मन प्रसन्न एवं प्रफुल्लित हो और रोजमर्रा की समस्त चिंताओं एवं समस्याओं को भूलकर ही मन को योग प्रक्रिया में संलग्न करना चाहिए। यदि आरोग्य साधना के रूप में योगाभ्यास करना हो तो आवेगों पर नियंत्रण करना आवश्यक होगा क्योंकि किसी भी आवेग या विकार ग्रस्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मन से किया जाने वाला अभ्यास साधक को स्वास्थ्य वर्द्धन से वंचित रखता है। अभ्यास काल में धैर्य की अत्यन्त आवश्यकता होती है क्योंकि आसनों की सिद्धि में भी अनेक कठिनाइयां उपस्थित हो सकती हैं। इसलिए असफलता प्रतीत हो तो उससे निराश न होकर धैर्य से कार्य लेते हुए अभ्यास में लगे रहना चाहिए।

आसन करते समय हमारा मन भी एकाग्र होना चाहिए। यदि मन एकाग्र नहीं होगा तो हम शरीर से क्रियाएँ करते जाएँगें और मन इधर-उधर भटकता रहेगा जिससे हमें जो लाभ मिलना चाहिए वह प्राप्त नहीं हो सकेगा। अत: हमें आसनों के साथ तादात्म्य भाव जोड़ना होगा। यदि हम साधना की वास्तविक भूमिका को प्राप्त करना चाहते तो स्वस्थता उसकी प्रथम शर्त है। जैसा कि पतंजलि ने कहा है— "स्थिरंसुखमासनम्" और उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए मन की चंचलता को छोड़ना होगा। इसलिए अभ्यास आवश्यक है। इसके लिए भी पतंजलि ने कहा है कि अभ्यास और वैराग्य से ही चित्त वृत्तियों का निरोध किया जा सकता है। अभ्यास अर्थात् आसनों का बार-बार अभ्यास करना। वैराग्य अर्थात् संयमी मन में जो चंचलता की उद्गम तरंगें उद्वेलित हो रही हैं उन पर नियंत्रण स्थापित करना होगा। तभी हम अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में सफलता हासिल कर सकते हैं।

7.3 सावधानियाँ

आसन जहां अनेक प्रकार से शरीर को प्रभावित करते हैं वहीं सावधानियों के अभाव में शरीर पर उतना ही बुरा प्रभाव भी डालते हैं। अर्थात् आसनों का सही ज्ञान न होना और सावधानियों के अभाव में अकसर ऐसा होता है। अत: आसन जैसी उपयोगी क्रिया का उपयोग भी सही तरह से करना चाहिए। आसन में कुछ मुख्य सावधानियां निम्न प्रकार हैं—

1. आसन के लिए हवादार स्थान होना चाहिए।
2. वस्त्र ढीले-ढाले होने चाहिए।
3. आसन खाली पेट करने चाहिए। भोजन के चार घंटे के बाद का समय उपयुक्त माना जाता है क्योंकि तब तक खाया हुआ भोजन पच जाता है।
4. अल्प मात्रा में पेय एवं ठोस खाद्य पदार्थ या पूर्ण मात्रा में पेय पदार्थ ग्रहण करने के उपरान्त लगभग डेढ़ घण्टे तक योगाभ्यास नहीं करना चाहिए।
5. योगाभ्यास के बाद आधे घंटे तक भोजन एवं दस मिनट तक नाश्ता नहीं करना चाहिए।
6. जिन व्यक्तियों के कान बहते हों, नेत्र-ताराएँ कमजोर हों एवं हृदय दुर्बल हो, उन्हें शीर्षासन नहीं करना चाहिए।
7. उदरीय अवयवों में पीड़ा एवं तिल्ली में अभिवृद्धि वाले व्यक्तियों को भुजंगासन, शलभासन, धनुरासन नहीं करना चाहिए।
8. कोष्ठ-बद्धता (कब्ज) से पीड़ित व्यक्ति योगमुद्रा, पश्चिमोत्तानासन अधिक समय तक नहीं करने चाहिए।
9. हृदय दौर्बल्य में साधारणतया उड्डियान और नौली क्रिया नहीं करनी चाहिए।
10. फेफड़ों के दौर्बल्य में उज्जाई प्राणायाम और और कुम्भक नहीं करना चाहिए।
11. जिन व्यक्तियों को उच्च रक्तचाप रहता हो, उन्हें कठोर यौगिक अभ्यास नहीं करने चाहिए।
12. स्त्रियों को मासिक धर्म के दौरान कठिन आसनों को नहीं करना चाहिए।
13. गर्भावस्था के दौरान आसनों के लिए विशेष सावधानी रखनी चाहिए। बिना आवश्यक जानकारी के आसनों को नहीं करना चाहिए।
14. यौगिक अभ्यास का प्रभाव कान्ति एवं स्फूर्ति-नाश न होकर उत्साह की अनुभूति है। शरीर और मन में थकान भी महसूस न हो।
15. पूरे अभ्यास क्रम को एक साथ निरन्तर करना आवश्यक नहीं है। बीच-बीच में आवश्यकतानुसार कायोत्सर्ग अथवा विश्राम किया जा सकता है।
16. अभ्यास क्रम में लगाए गए बल से शरीर की किसी भी प्रणाली पर कोई तनाव न पड़े।
17. आसन सजग रह कर, आत्म-विश्वास से संपादित करने से ध्येय की पूर्ति होती है।
18. यदि बीच में लम्बे समय तक अभ्यास रुक गया हो तो उसका पुन: अभ्यास करना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

19. आसनों के अभ्यास का समय धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। आसन में सामान्यत: श्वास धीमा व लम्बा लेना चाहिए। सामान्यत: जब शरीर को झुकाना व मोड़ना हो तब श्वास का रेचन हो।
20. आसनों के पश्चात् प्राणायाम का अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए।
21. आसन करते समय अपने चित्त को सजग रख कर उसमें ही अपने आपको लीन रखना चाहिए। कम से कम मानस-चक्षुओं से उस आसन का साकार रूप बनाना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि आसनों की सही जानकारी करने के बाद इनका सही तरह से उपयोग किया जाए तो व्यक्ति अपने जीवन में स्वस्थता का अनुभव कर सकता है। इसका यह भी परिणाम होगा कि वह अपने जीवन में सफलता भी प्राप्त कर सकता है।

8.0 आसनों की निष्पत्ति

आसनों के निष्पत्ति या लाभ के महत्त्व को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में निम्न प्रकार समझा जा सकता है—

8.1 आध्यात्मिक दृष्टि से

आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में निर्विवाद रूप से आसनों के महत्त्व को स्वीकारा गया है। कहा गया है कि **शरीरमाद्यम् खलु धर्म साधनम्**। अर्थात् धर्म का साधन अर्थात् साधना का माध्यम यह शरीर ही है। अत: इस शरीर की उपयोगिता हर दृष्टि से है। यह भी कहा जाता है कि शरीर एक मंदिर है जिसमें आत्मा का निवास रहता है। आत्मा जैसे पवित्र तत्त्व का अधिष्ठान भी पवित्र ही होना चाहिए। यह शरीर शुद्धि और अशुद्धि दोनों का स्थल है। यह भी सत्य ही है। अत: उस मल को दूर करने के लिए भी आसनों का महत्त्व है। उन मलों का आवरण हटने से ही आत्मा जसे पवित्र तत्त्व को जानना आसान हो सकता है। योग साधना के क्षेत्र में जहां अधिकांश प्रयोगों में शारीरिक क्रियाओं को स्थिर कर दिया जाता है वहीं आसन जैसी क्रिया सर्वांग शरीर को सक्रिय रखता है। शरीर की व्यवस्थित यह क्रिया अनेक आयामों को खोलने में सहायक होती है। शरीर साधना के योग्य बन जाता है। कष्ट सहन करने की क्षमता का विकास होता है। महर्षि पंतजलि ने भी अपने योग के आठ अंगों में तीसरे स्थान पर आसन को रखा है। आसन शरीर को साधना के अनुकूल बनाने में सहायक होते हैं जिससे व्यक्ति आध्यात्मिक अनुभवों का प्राप्त करने में सफल होता है।

8.2 वैज्ञानिक दृष्टि से

वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि आसन से शरीर में लचीलापन बढ़ने से मांसपेशियां सुदृढ़ रहती हैं, रक्त संचार सुव्यवस्थित होता है, ग्रंथितंत्र तथा नाड़ीतंत्र संतुलित रहते हैं, पाचन क्रिया सही रहती है जिससे व्यक्ति स्वस्थ रहता है। आसनों के द्वारा व्यक्ति अपने दैनिक जीवन के क्रिया-कलापों को भी सरलता पूर्वक कर सकता है।

8.3 मनोवैज्ञानिक दृष्टि से

कहा गया है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है। अत: आसनों से मानसिक प्रसन्नता बढ़ती है। कई मानसिक समस्याएँ ऐसी होती हैं जो शारीरिक अस्वस्थता अथवा असंतुलन के कारण होती हैं। आसनों के सकारात्मक शारीरिक परिवर्तनों से मन प्रसन्न रहता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि असाध्य मानसिक रोगों का इलाज केवल आसन करने से ही हो सकता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दैनिक जीवन की अनेक परिस्थियों से प्रभावित मन कुछ हद तक नियंत्रित किया जा सकता है। अथवा ऐसी परिस्थितियों में संतुलन स्थापित करने की क्षमता व्यक्ति में विकसित हो सकती है।

8.4 उपचारात्मक दृष्टि से

अनेक रोगों के उपचार में आसनों का उपयोग संभव होता है। जो रोग औषधियों द्वारा नहीं मिटाए जा सकते हैं, उनके लिए आसन महत्त्वपूर्ण होते हैं। इसीलिए वैज्ञानिक दृष्टि से भी आसनों की महत्ता है। आसनों से कई रोगों के उपचार में पूर्णत: अथवा अंशत: सफलता मिलती है। जो रोग प्रारंभिक स्तर के हैं, उनमें अधिक सफलता मिलने की संभावना रहती है। अत: वर्तमान में चिकित्सक भी इन आसनों अथवा शारीरिक यौगिक क्रियाओं को महत्त्व देने लगे हैं।

Jain (Isha Bharati Institute (Deemed University), Lodhun

8.5 व्यावसायिक दृष्टि से

व्यावसायिक जीवन व्यवस्ता का जीवन होता है। कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहां अति भाग-दौड़ है तो कुछ क्षेत्र ऐसे भी हैं जहां व्यक्ति को एक ही स्थिति में अधिकाधिक समय तक रहना होता है अथवा कार्य की दृष्टि से भी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं। अत: ऐसी स्थितियों में आसनों का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है। व्यक्ति को अपने जीवन यापन के लिए अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ता है। यदि शारीरिक दृष्टि से भी विचार किया जाए तो यही बात स्पष्ट होती है कि शरीर जितना अधिक फुर्तीला और लोचदार होता है उतना ही व्यक्ति अपने कार्यों को सही ढंग से कर सकता है और तभी वह जीवन में सफल हो सकता है। शरीर में चुस्ती फुर्ती रहने से व्यक्ति प्रसन्नता का अनुभव तो करता ही है। इससे उसका मनोबल भी प्रभावित होता है। अत: उसकी कार्य क्षमता में वृद्धि होने की संभावना भी बढ़ जाती है।

इससे स्पष्ट होता है कि आसन वास्तव में व्यक्ति के जीवन में अनेक दृष्टि से महत्त्व रखते हैं। जीवन वह वह क्षेत्र चाहे आध्यात्मिक हो भौतिक हो।

बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

1. आसन शब्द का अर्थ क्या है?
2. आचार्य तुलसी ने आसन की क्या परिभाषा दी है?
3. अस्थियों की संख्या कितनी है?
4. मांसपेशियां कितनी हैं?
5. आसनों की कितनी श्रेणियां हैं?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न—

1. आसनों के प्रयोजन को स्पष्ट कीजिए।
2. आसनों के लिए क्या-क्या अनिवार्यताएँ हैं?

3. निबंधात्मक प्रश्न—

1. आसनों का वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
2.0 भूमिका
3.0 प्राणायाम का परिचय
4.0 प्राणायाम का प्रयोजन
5.0 प्राणायाम का वैज्ञानिक दृष्टिकोण
6.0 प्राणायाम का आध्यात्मिक दृष्टिकोण
7.0 मुद्रा का स्वरूप एवं वैज्ञानिकता
8.0 ध्वनि का स्वरूप एवं प्रक्रिया

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ के द्वारा निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है—

1. प्राणायाम का परिचय प्राप्त हो सकेगा।
2. प्राणायाम का प्रयोजन प्राप्त हो सकेगा।
3. प्राणायाम का वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्राप्त हो सकेगा।
4. मुद्रा का स्वरूप तथा वैज्ञानिकता को समझा जा सकेगा।
5. ध्वनि के स्वरूप एवं प्रक्रिया को समझा जा सकेगा।

2.0 भूमिका

अखिल ब्रह्माण्ड में प्राण सर्वाधिक शक्तिशाली व उपयोगी जीवनी तत्त्व है। प्राण के आश्रय से ही जीवन है। प्राण के कारण से ही देह तथा ब्रह्माण्ड की सत्ता है। प्राण की अदृश्य शक्ति से ही सम्पूर्ण विश्व का संचालन हो रहा है। हमारा यह शरीर भी प्राण की ऊर्जा से गतिशील रहता है। हम देखते हैं कि मनुष्य आहार के बिना वर्षों जीवन–यापन कर सकता है परन्तु प्राण तत्त्व के बिना कुछ पलों तक भी जी नहीं सकता। प्राण ही सम्पूर्ण शरीर को क्रियाशीलता प्रदान करता है। प्राण की ऊर्जा से ही आंखों में दर्शन–शक्ति, कानों में श्रवण शक्ति, नाक में घ्राणत्व, वाणी में सरसता, मुख पर आभा, ओज व तेज, मस्तिष्क में सहनशक्ति व उदर में पाचन शक्ति है। प्राण की ऊर्जा से ही मानव शरीर में रोग–प्रतिरोधक शक्ति का विकास होता है। अत: प्राण ऐसी जीवनी शक्ति है जिससे प्राणी जीवित एवं सक्रिय रहते हैं। यह ऐसी शक्ति है जिसे विभाजित नहीं किया जा सकता किन्तु नियमित और नियंत्रित किया जा सकता है। यह साधन है—प्राणायाम। मन की स्वस्थता तथा मानसिक एकाग्रता के लिए प्राणायाम उपयोगी बताया गया है। मानसिक स्वास्थ्य–मानसिक संतुलन तथा मानसिक एकाग्रता योग की गहराई में पहुंचने के लिए आवश्यक एवं अनिवार्य शर्त है। अत: प्राणायाम का अभ्यास साधना की दृष्टि से तो उपयोगी है ही साथ ही अनेक प्रकार के विकारों का शमन भी इसके द्वारा किया जा सकता है।

3.0 प्राणायाम : परिचय

प्राणवायु की गति को नियंत्रित करने का माध्यम है प्राणायाम। प्राणायाम का शाब्दिक अर्थ है—श्वास की वृद्धि करना। इसके अभ्यास द्वारा साधक श्वास को लंबा अथवा धीमा करने में अभ्यस्त हो जाता है। योगीजन इस क्रिया को शरीर में जीवनी शक्ति का संचार करने वाली मानते हैं जिससे शारीरिक, मानसिक दुर्बलता तथा वृद्धावस्था का अवरोध होकर बल एवं पौरुष की वृद्धि होती है। प्राणायाम दो शब्दों से मिलकर बना है प्राण + आयाम। आयाम का अर्थ है विस्तार। अत: प्राणायाम का अर्थ है प्राण का विस्तार करना। प्राण के इस विस्तार की प्रक्रिया में प्राण का संकोच–विकोच अथवा निरोध भी किया जाता है। प्राणायाम की प्रक्रिया में तीन क्रियाएं प्रमुख हैं – पूरक, रेचक तथा कुंभक। अत: प्राणायाम में कभी श्वास की गति दीर्घ, कभी मंद, कभी

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शीघ्र और कभी श्वास को रोकना भी शामिल हैं। अत: कहा जा सकता है कि प्राण को साधने के लिए प्राणायाम की ये अनेक क्रियाएं की जाती हैं जिससे प्राण शक्ति शक्तिशाली बन सके, सुदृढ़ बन सके। जैसे शरीर को साधने के लिए अनेक प्रकार के आसनों का उपयोग किया जाता है वैसे ही प्राण को साधने के लिए भी अनेक प्रकार की प्राणायाम की क्रियाएं की जाती हैं। प्राणायाम को योग की भाषा में कहा है—

''श्वास प्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:''। (योगसूत्र 2/49)

अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति का विच्छेद प्राणायाम है। गति विच्छेद का अर्थ है कि जो सामान्य श्वास है उसे कुंभक के द्वारा रोकना अथवा दीर्घ अथवा मंद गति करना। हमारे शरीर में जितनी भी चेष्टाएँ होती हैं, सभी का प्राण से प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध है। प्रतिक्षण जीवन और मृत्यु का जो अटूट सम्बन्ध मनुष्य के साथ है, वह भी प्राण के संयोग से ही है। प्राणायाम प्राण की शक्ति को स्वाधीन बनाकर तेजस्वी भी बनाता है। प्राणायाम केवल पूरक, रेचक अथवा कुंभक नहीं है बल्कि प्राणायाम प्राण को अनुशासित करने का उपक्रम है। प्राणायाम श्वास क्रिया का सम्यग् नियमन और नियोजन है। प्राणायाम ही एक ऐसा साधन है जिससे व्यक्ति श्वास, मन और प्राण को वश में करके अपनी सुप्त चेतना को जागृत कर सकता है। संस्कृत भाषा में जीवन शब्द जीव-प्राणधारणे धातु से निष्पन्न है। अर्थात् जीवन का प्राण धारण करना। हमारे प्राचीन साहित्य वेद एवं उपनिषद् में भी प्राण की अनंत महिमा का वर्णन किया गया है।

3.1 प्राण का स्वरूप

प्राणायाम को समझने के लिए प्राण को समझना आवश्यक है। इसके द्वारा ही प्राणायाम की सम्यक् जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

वेदों में भी प्राण को मूल चेतना कहा है—**प्राणो विराट् प्राणोदेस्ट्री प्राणं सर्व उपासनम्** अर्थात् प्राण ही विराट है, वही सबका प्रेरक है। इसलिए सभी उसकी उपासना करते हैं।

वृहदारण्यक उपनिषद में कहा है—**प्राणो वै बलम्, प्राणो वै अमृतम्, आयुर्न: प्राण:** अर्थात् प्राण ही बल, प्राण ही अमृत और प्राण ही आयु है।

तैत्तीरीय उपनिषद में कहा है—**प्राणानि जातानि जीवन्ति प्राणम् प्रत्यात्यभि संविशन्तीति** अर्थात् प्राण से ही सब उत्पन्न होते हैं, प्राण से ही जीवित रहते हैं और अंत में प्राण में ही लीन हो जाते हैं।

ऐतरेयारण्यक में प्राण के बारे में कहा गया है—

प्राण: प्राणो वा आयु।
यावदस्मिच्छरीरे प्राणो वसति तावदायु:।।

अर्थात् जब तक शरीर में प्राण रहता है तब तक आयु की स्थिति समझनी चाहिए। शंखायन आरण्यक में प्राण-शक्ति के विषय में निम्न सूक्त मिलता है—

''रेतो वै प्राण:''

अर्थात् हमारे शरीर में जो शक्ति, बल, ऊर्जा और तेज दृष्टिगत होता है, उसे ही प्राण माना गया है।

आचार्यश्री तुलसी के अनुसार प्राण जीवनी शक्ति है। वह सम्पूर्ण जीवन को संचालित करने वाली ऊर्जा है। इसके संयोग से ही जीव सजीव अवस्था को प्राप्त होता है एवं प्राणों के वियोग से मरण अवस्था को प्राप्त होता है। जीवन का बाह्य प्रकटीकरण प्राण से ही होता है। अमुक जीव या व्यक्ति जी रहा है। इसका अनुभव प्राण से ही होता है।

योगाचार्य स्वामी श्री शिवानंद के अनुसार विश्व-व्यापक सभी शक्तियों का योग प्राण है। इस विचार से हम प्राण तत्त्व की विस्तृतता का अनुमान लगा सकते हैं। जैन-दर्शन में प्राण तत्त्व की तुलना पौद्गलिक स्कन्धों (वर्गणाओं) से की गई है। मान्यता है कि ये वर्गणाएँ भी सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है।

यह भी कहा जाता है कि विश्व-क्षितिज पर किसी स्थान के लोगों के शरीर में एक ऐसी शक्ति होती है जिसके बाहर होते ही मनुष्य मर जाता है। इस प्राण ऊर्जा को ''न्यूमा'' भी कहा जाता है। प्राण के बारे में विभिन्न मत इस प्रकार भी प्रचलित हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. कुछ वैज्ञानिक प्राण की परिभाषा में कहते हैं कि नलिकाविहीन ग्रंथियों से जो जीवन रस तैयार होता है, वही हमारा प्राण तत्त्व है।

2. कुछ का मानना है कि वायु में व्याप्त रासायनिक परमाणु विशेष का रूपांतरण प्राण है।

3. ज्योतिषियों का अभिमत है कि आइनोस्वगेटिक प्लाज्मा जो हमारे चारों ओर आकाश गंगा के घर्षण से उत्पन्न होकर छाया रहता है, वही प्राण है। गुरुत्वाकर्षण बल के साथ भी यही शक्ति रूपांतरित रूप से रहती है।

3.2 प्राण और प्राणवायु

शब्द-संकेत की अपनी कठिनाई है। कई शब्द अर्थ की अभिव्यक्ति भिन्न रखते हुए भी एक रूप में प्रयुक्त होते हैं। प्राण शब्द भी इसका अपवाद नहीं है। प्राण को ऊर्जा, शक्ति आदि अनेक रूपों में समझा जाता है। योगग्रंथों में प्राण, अपान आदि पांचों वायुओं को भी प्राण कह देते हैं परन्तु प्राण और प्राणवायु एक नहीं है। प्राण शक्ति है जो पांचों वायुओं के रूप में शरीर के विभिन्न अंगों में कार्य करती है। इसलिए प्राण शक्ति को भी प्राणवायु समझा जाने लगा है। प्राण सूक्ष्म ऊर्जा है जबकि प्राणवायु स्थूल तत्त्व है। प्राणवायु सभी अंगों में काम आती है। इसलिए प्राणवायु को प्रधानता मिलना अस्वाभाविक नहीं है। प्राणशक्ति जीवन का आधारभूत तत्त्व है। अत: प्राण और प्राणवायु को एक नहीं समझना चाहिए।

श्वास-प्रश्वास की क्रिया के अवरुद्ध हो जाने को सामान्य भाषा में प्राण निकलना कहा जाता है किन्तु श्वास और प्राण में मौलिक अंतर है। श्वास-प्रश्वास जब तक जीवन रहता है तब तक चलता है।। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि श्वास और प्रश्वास ही प्राण है। प्राण जीवन-शक्ति है जो सम्पूर्ण शरीर में परिव्याप्त है। वह सूक्ष्म शक्ति शरीर के प्रत्येक अंग एवं स्नायुओं में परिभ्रमण करती है जबकि श्वास-प्रश्वास केवल फेफड़ों में जाता है जहाँ रक्त के शोधन में सहयोगी बनता है। अत: प्राण श्वास-प्रश्वास का पर्याय नहीं हो सकता। लुहार धोकनी धोकता है। उससे हवा निकलती है, अग्नि प्रज्वलित होती है। एक तो धोकनी से हवा निकलती है और एक अग्नि जलती है। हवा ओर आग एक नहीं है किन्तु जितनी तेज हवा होगी, उतनी ही तेज अग्नि भी हो जाएगी। इसी प्रकार प्राणवायु प्राण को उत्तेजित करती है। हम जितनी मात्रा में प्राणवायु (ऑक्सीजन) लेंगे, उतना ही प्राण विशुद्ध होगा, सक्रिय होगा। यदि प्राणवायु नहीं मिलेगी तो प्राण में उत्तेजना नहीं आएगी, सक्रियता नहीं आएगी। इसका शरीर-शास्त्रीय कारण यह है—हमारे शरीर में रक्त-संचार के दो मुख्य साधन हैं—हृदय और फेफड़ा, रक्त का शोधन फेफड़ों में होता है। अशुद्ध रक्त को शुद्ध कर कार्बन-डाई-ऑक्साईड को शरीर से बाहर कर दिया जाएगा और प्राणवायु वाला शुद्ध रक्त शरीर के अन्दर प्रवाहित होगा। अगर प्राणवायु नहीं मिली तो रक्त विकृत रहेगा और वह सारे शरीर को विकृत कर देगा। प्राणवायु रक्त-शुद्धि का साधन है और शुद्ध रक्त सारे शरीर को गति देने वाला है। प्राण के साथ उसका गहरा संबंध है। प्राणवायु रक्त के माध्यम से प्राण को भी उत्तेजित करती है, सक्रिय करती है। प्राणवायु का पर्याप्त सिंचन मिलने पर प्राण का पौधा लहलहा उठता है। पूरा सिंचन न मिलने पर वह पौधा कुम्हला जाता है, व्यक्ति निष्प्राण और निष्क्रिय हो जाता है।

4.0 प्राणायाम का प्रयोजन (Purpose)

प्राणायाम के प्रयोजन को निम्न प्रकार समझा जा सकता है—

4.1 प्राण-सिद्धि

प्राण ऐसी जीवनी शक्ति है जिससे प्राणी जीवित एवं सक्रिय रहते हैं। प्राणायाम जहां प्राण को नियमित और विस्तृत बनाता है, वहां दूसरी ओर प्राण की शक्ति को स्वाधीन बनाकर तेजस्वी भी बनाता है। प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों और कोशिकाओं में प्राण प्रवाहित होता है।

प्राणायाम केवल पूरक, रेचक अथवा कुम्भक ही नहीं है बल्कि प्राण को अनुशासित करने की प्रक्रिया है। प्राणायाम श्वास-क्रिया का सम्यग् नियमन और नियोजन है। प्राणायाम श्वास-प्रश्वास का सम्यग् अभ्यास है। प्राणायाम ऐसा साधन है जिससे व्यक्ति श्वास और मन को वश कर अपनी सुप्त चेतना को जागृत कर सकता है। प्राण को सिद्ध कर सकता है। उससे उच्चतम साधना के शिखर पर चढ़ने के लिए बहु3त मदद मिलती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.2 स्वास्थ्य

जहां स्वास्थ्य के लिए आसन उपयोगी है वहाँ प्राणायाम उनमें नवजीवन संचार करने वाला है। प्राणायाम प्राण-शक्ति को विकसित और जागृत करता है। इस जागृति का निमित्त प्राणायाम बनता है। श्वास-प्रश्वास को व्यवस्थित एवं संयमित करने से प्राणायाम फलित होता है। अत: श्वास-प्रश्वास—पूरक, रेचक और कुंभक को प्राणायाम कह दिया जाता है किन्तु साधना करने वाला साधक इस भेद-रेखा को स्पष्ट समझता है। विद्युत् बल्ब के द्वारा अभिव्यक्त होती है। तारों में प्रवाहित होने वाला विद्युत्-प्रवाह तार एवं बल्ब से भिन्न है। हालांकि बल्ब एवं तार के द्वारा विद्युत को अनुशासित एवं व्यवस्थित किया जाता है। ठीक विद्युत-प्रवाह की तरह प्राण भी प्राणायाम के द्वारा जागृत और अनुशासित होता है। महर्षि पतंजलि के अनुसार श्वास और प्रश्वास की गति का विच्छेद ही प्राणायाम है। जब श्वास-प्रश्वास अनुशासित होकर निग्रह की स्थिति में पहुंचता है तब प्राणायाम ही पूर्णता होती है। ''प्राण वै बलम्'' अर्थात् प्राण ही बल है—इसके अनुसार प्राण सघन होकर शरीर के अंग-अंग में फैलता है और उसे स्वस्थ एवं बलवान बनाता है।

5.0 प्राणायाम का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

स्थूल शरीर की विकृतियों को योगासनों से दूर किया जाता है तो सूक्ष्म शरीर पर योगासनों की अपेक्षा प्राणायाम का विशेष प्रभाव होता है। सूक्ष्म शरीर ही नहीं, प्राणायाम से स्थूल शरीर पर भी विशेष प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से होता है। हमारे शरीर में फेफड़ों, हृदय एवं मस्तिष्क का एक विशेष महत्त्व है और इन तीनों का एक-दूसरे के स्वास्थ्य से घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। मानव फेफड़ों के प्रकोष्ठों को यदि भूमि पर फैलाया जाये तो वह 15000 वर्ग फीट का स्थान घेरते हैं। अर्थात् हमारे फेफड़ों में करोड़ों श्वास प्रकोष्ठ (सेल्स) हैं। मानव सामान्य रूप से श्वास-प्रश्वास की जो प्रक्रिया करता है, वह इस विस्तृत फेफड़ों के लिए पर्याप्त नहीं। इससे तो फेफड़ों का एक तिहाई हिस्सा ही स्वास्थ्य लाभ करता है या उसके कण सुरक्षित रह पाते हैं। आज के इस बहते हुए प्रदूषण में तो प्राणायाम की आवश्यकता व्यक्ति मात्र के लिए अनिवार्य रूप से हो जाती है क्योंकि वायु में भयंकर प्रदूषण बढ़ रहा है जिसका दुष्प्रभाव सर्वप्रथम हमारे फेफड़ों पर ही होता है। इसीलिए आज अधिकांश व्यक्ति दमा, खांसी, जुकाम-नजला व अन्य फेफड़ों संबंधी रोग के शिकार है। जब फेफड़ों में पूर्ण रूप से ऑक्सीजन नहीं पहुंचता तो दमा, खांसी, तपेदिक आदि बीमारियाँ होती ही हैं। हृदय भी अस्वस्थ हो जाता है क्योंकि फेफड़ों से ऑक्सीजन हृदय में पहुंचता है और वहां रक्त में मिलकर मस्तिष्क आदि पूरे शरीर में फैल जाता है। यदि ऑक्सीजन शुद्ध और पूर्ण मात्रा में नहीं है तो रक्त शुद्ध नहीं हो पायेगा जिसका प्रभाव हृदय पर पड़ेगा। प्राणायाम के समुचित अभ्यास से धमनियों में प्रवाहित होने वाले रक्त में आक्सीजन प्रचुर मात्रा में मिलती है जो मानव के स्वास्थ्य के लिए नितांत आवश्यक है। रक्त शुद्धि से मस्तिष्क से दूषित रक्त बाहर होकर शुद्ध रक्त की प्राप्ति होती हैं। प्राणायाम के अभ्यास से विशेषतया भस्त्रिका प्राणायाम के अभ्यास फेफड़ों में आक्सीजन के तीव्र प्रवेश के फलस्वरूप रक्त की गति अत्यंत तीव्र हो जाती है जिससे अनुपातिक दृष्टि से अधिक शुद्ध हो जाता है। अंत:स्रावी ग्रंथि समूह के अंतर्गत समस्त ग्रंथियों को प्रचुर मात्रा में रक्त की प्राप्ति होने से वे सभी स्वस्थ रहती हैं। इससे उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है। प्राणायाम के अभ्यास से पाचनतंत्र के समस्त अंगों का सम्यक् व्यायाम होने से वे स्वस्थ रहते हैं। प्राणायाम के बार-बार करने से वक्षस्थल तथा उदर के मध्य स्थित तनुपट (डायाफ्राम) नामक स्नायु तथा अनेक मांसपेशियां क्रमश: संकुचित तथा विकसित होती रहती हैं। प्राणायाम की कुंभक क्रिया में यकृत में अनावश्यक हुए रक्त को कम करने के कारण अंग्निमाद्य एवं कोष्ठबद्धता जैसे रोगों का निरसन होता है। इस प्रकार पाचक अंगों के समुचित कार्य करने से पाचक रस का निर्माण भी अधिक होता है तथा पक्वाशय के द्वारा उसका शोषण भी अधिक मात्रा में होता है। इसके फलस्वरूप रक्त में उक्त पाचक रस को प्राणवायु के साथ पोषक संपदाएं भी अधिक परिणाम में प्राप्त होती है। श्वसन तथा मल निस्सारक अंगों के कार्यों के सम्यक्तया होने से शिरा-धमनीगत रक्त पौष्टिक तत्त्वों से भरपूर तथा परिशुद्ध होता है। प्राणायाम के अंतर्गत पूरक तथा कुंभक से हृदय के समीपस्थ स्नायुओं एवं मांसपेशियों के मृदु घर्षण की संवेदना से हृदय में स्फूर्ति उत्पन्न होती है तथा इसके फलस्वरूप संपूर्ण शरीर की धमनियों में रक्त के आवागमन की क्रिया उचित ढंग से होने लगती है। चर्म रोगों में भी प्राणायाम से आशातीत परिणाम लाभ प्राप्त होता है।

6.0 प्राणायाम का आध्यात्मिक दृष्टिकोण

अथर्ववेद में कहा है—प्राणापानो मृत्योर्मा पातं स्वाहा। प्राण और अपान ये दोनों मेरी मृत्यु से रक्षा करें। मनुस्मृति में कहा है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथामलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।।

जैसे अग्नि आदि में तपवाने से सुवर्ण आदि धातुओं के मल-विकार नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम से इन्द्रियों एवं मन के दोष दूर होते हैं।

हठयोग प्रदीपिका में कहा है—

प्राणायामेरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति।
आचार्याणान्तु केषाञ्चिदन्यत् कर्मन सम्मतम्।। (हठ प्र. 2/38)

प्राणायाम की महत्ता को बताते हुए गोरक्षशतक में कहा है—

आसनेन रूजो हन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा।।

अर्थात् आसन से योगीजनों को रोग, प्राणायाम से पापनिवृत्ति और प्रत्याहार से मानसिक विकार दूर करना चाहिए।

प्राण एवं मन का घनिष्ठ संबंध है। प्राण के रुकने से मन स्वतः एकाग्र हो जाता है। महर्षि पातंजलि ने कहा है—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् (योगसूत्र 2/52)
धारणासु च योग्यतामनसः (योगसूत्र 2/53)

प्राणायाम करने से आत्म-ज्योति के ऊपर आया हुआ तामसिक परमाणुओं का आवरण क्षीण हो जाता है। यह आवरण असत्, अविद्या व क्लेश रूपी तमस् विकारों का होता है जो प्राणायाम के द्वारा दूर किया जा सकता है। इसके उपरांत परिशुद्ध हुए मन में धारणा (एकाग्रता) स्वतः होने लगती है तथा धारण से योग की उन्नत स्थितियों-ध्यान एवं समाधि की ओर आगे बढ़ा जाता है। कहने का तात्पर्य है कि प्राणायाम से मन के विकारों का शमन होता है जिससे मानसिक एकाग्रता सधने लगती है। यह मानसिक एकाग्रता समाधि की उच्च अवस्था में सहायक होती है।

6.1 प्राणायाम के प्रकार

साधना के प्राचीन ग्रंथ हठयोग प्रदीपिका एवं घेरण्ड संहिता आदि में प्राणायाम के संबंध में निम्न श्लोक दिया गया है—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्टकुम्भकाः।।

1. सहित, 2. सूर्य भेद, 3. उज्जायी, 4. शीतली, 5. भस्त्रिका, 6. भ्रामरी, 7. मूर्च्छा, 8. केवली—ये आठ प्रकार कुम्भक घेरण्ड संहिता में उल्लिखित हैं।

1. सहित—सहित के दो प्रकार हैं—सगर्भ और निगर्भ। जो बीज मंत्र के सहित हो, उसे सगर्भ और जो बीज मंत्र के रहित हो उसे निगर्भ कहते हैं।

2. सूर्य भेद—सूर्य नाड़ी से यथाशक्ति श्वास भरकर जालंधर बंध लगाकर कुम्भक करना सूर्यभेद प्राणायाम है।

3. उज्जायी—दोनों नासा छिद्रों से वायु भरकर कण्ठ और स्पर्श करते हुए कुम्भक करना और जालन्ध बंध लगाना उज्जायी कुम्भक है।

4. शीतली—जिह्वा को स्पर्श करते हुए श्वास भरकर उदर को परिपूर्ण करके कुम्भक कर शीतली कुम्भक है।

5. भस्त्रिका—तीव्र गति से श्वास भरकर उदर में धीरे-धीरे चलाना एवं कुम्भक करना भस्त्रिका प्राणायाम है।

6. भ्रामरी—दोनों हाथों से कानों को बंद करके पूरक कर कुम्भक करना भ्रामरी प्राणायाम है।

7. मूर्च्छा—वायु भरकर मन को आज्ञाचक्र में प्रतिष्ठित करने से योगी की चेतना लुप्त हो जाती है और बेहोशी की अवस्था प्रतीत होती है, यह अवस्था मूर्च्छा कुम्भक है।

8. केवली—रेचन में 'हं' और पूरक में 'सो' का उच्चारण करना। श्वास-प्रश्वास का 8 प्रहर में 8-8 बार अभ्यास करना चाहिए एवं अभ्यास प्रतिदिन पांच-पांच बार बढ़ाते रहना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इनके अतिरिक्त प्राणायाम के कुछ प्रयोग निम्न हैं—

1. दीर्घश्वास—इसमें लंबे श्वास-प्रश्वास का उपयोग किया जाता है।

2. चंद्रभेदी प्राणायाम—इस प्राणायाम में बांई नासिका से श्वास लिया जाता है तथा बांयी अथवा दांयी नासिका से श्वास छोड़ा जाता है।

3. सूर्यभेदी प्राणायाम—यह चंद्रभेदी प्राणायाम का विपरीत प्राणायाम है। इसमें दांयी नासिका से श्वास लिया जाता है तथा दांयी अथवा बांयी नासिका से श्वास छोड़ा जाता है।

4. अनुलोम-विलोम प्राणायाम—इस प्राणायाम में बायीं नासिका से श्वास लेते हैं तथा दांयी नासिका से श्वास छोड़ते हैं। पुन: दांयी नासिका से श्वास लेते हैं तथा बांयी नासिका से श्वास छोड़ते हैं।

5. शीतली प्राणायाम—जीभ को बाहर निकालकर कौए को चोंच के समान आकृति बनाकर जीभ से श्वास लेते हैं तथा नासिका से श्वास छोड़ते हैं।

6. शीतकारी प्राणायाम—जिह्वा के अग्रभाग को दांतों से हल्का सा दबाकर मुंह से श्वास लेते हैं तथा नासिका से छोड़ते हैं।

इनके अतिरिक्त भी कई प्राणायामों का वर्णन मिलता है। अत: कहा जा सकता है कि विभिन्न प्रकार के प्राणायामों के अभ्यास से अनेक प्रकार की उपलब्धियां प्राप्त की जा सकती हैं। यदि उपरोक्त लिखित प्राणायामों का उपयोग भी अपने दैनिक जीवन में उपयोग किया जाए तो इनसे होने वाले परिणामों को प्राप्त किया जा सकता है।

बोध-प्रश्न

1. सर्वाधिक शक्तिशाली उपयोगी जीवनीतत्त्व क्या है?
2. प्राणवायु की गति को नियंत्रित करने का माध्यम क्या है?
3. वेदों मे प्राण को क्या कहा गया है?
4. आचार्य तुलसी के अनुसार प्राण क्या है?
5. जीवन का आधारभूत तत्त्व क्या है?

7.0 मुद्रा

प्राचीन काल से ही भारत में अधिकांश जिज्ञासुओं ने सत्य की खोज में अनेक यौगिक अभ्यासों को महत्त्व दिया। इसमें आसन, प्राणायाम आदि के साथ मुद्रा का भी विशेष स्थान है। योग के महत्त्वपूर्ण अभ्यासों में मुद्राओं का भी अभ्यास भी महत्त्वपूर्ण है। कुंडलिनी शक्ति के जागरण में मुद्राओं का अभ्यास सहायक माना गया है। अत: यह अभ्यास आसनों और प्राणायामों के अभ्यास से अधिक शक्तिशाली माना गया है। मुद्रा आदि का वर्णन करने वाला सबसे प्राचीन ग्रंथ 'घेरंड संहिता' है। इस ग्रंथ में योग के देवता शिवजी अपनी पत्नी एवं शिष्या पार्वती जी से कहते हैं कि—हे देवी! मैंने तुम्हें मुद्राओं का ज्ञान प्रदान किया है। केवल इनका ज्ञान ही सब सिद्धियों का दाता है।

मुद्रा का अर्थ

सामान्यतया मुद्रा शब्द आते ही जो सामान्य बोध होता है, वह करेंसी के रूप में होता है। जब विनिमय के लिए मुद्रण की व्यवस्था की गई तब से सिक्कों को मुद्रा कहना प्रारम्भ हुआ है। ऐसे सामान्यत: टंकण भी मुद्रण का एक प्रकार है। भारतीय परम्परा में प्रत्येक शब्द के साथ उसकी आत्मा पर विचार किया गया है। यद्यपि शब्द एक संकेत होता है, फिर भी वह उसके निकटतम भाव का स्पर्श करता है। मुद्रा शब्द साधना पद्धति में विशिष्ट आकृति के लिए प्रयुक्त होता है। आकृति को संस्थान, पोज (Posture) मुद्रा भी कहा जाता है। शरीर की भिन्न-भिन्न आकृतियां हमें भिन्न-भिन्न भावों को समझने का अवकाश देती हैं। मुद्रा ऐसे तो शरीर के ऊपर अभिव्यक्त होने वाली समस्त आकृतियों को ही कहा जाता है किन्तु हमारी यह विवशता है कि हम समस्त भावों को पकड़ नहीं पाते हैं। इसलिए शरीर पर स्थूल रूप से निर्मित होने वाली विशिष्ट आकृतियों को मुद्रा कहते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्वामी सत्यानंद के अनुसार — चित्त को प्रकट करने वाले किसी विशेष भाव को मुद्रा कहते हैं।

पण्डित हरिकृष्ण के अनुसार जिन क्रियाओं से प्रत्याहार, प्राणायाम तथा ध्यान की सिद्धि में सहायता प्राप्त होती है, उन कुशल क्रियाओं का नाम मुद्रा है।

उच्च श्रेणी के भारतीय नृत्यों में मुद्रा हाथों की विशेष अवस्था है जो आतंरिक भावों या संवेदनाओं का संकेत करती है। योनिमुद्रा, चिन्मय मुद्रा आदि हाथ की ही विशेष स्थितियां हैं। नृत्य प्रक्रियाओं की भांति इनका उद्देश्य भी अंतरंग भावों का प्रकटीकरण या साधक के आध्यात्मिक भावों की ओर संकेत करता है। मुद्राओं की साधना का उद्देश्य यह है कि उसके द्वारा मूलाधार चक्र के अंतर्गत कन्द से अलिप्त प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर सुषुम्ना को चेतन करना है। इससे सुषुम्ना में हठ योगी साधक का प्राण सहजतया प्रविष्ट हो जाता है तथा वह मृत्यु के भय से विहीन हो जाता है। स्थूल रूप में मुद्रा का फल शरीर की स्थिरता माना जा सकता है।

हमारे भीतर जो भाव होते हैं, वैसे ही हमारी विभिन्न मुद्राओं का स्वत: निर्माण होने लगता है। घटना तो बाहर घटित होती है किन्तु उसका प्रतिबिम्ब भीतर बनता है क्योंकि हमारा अन्तर एवं बाह्य सूक्ष्म संबंधित है। इसी प्रकार अन्दर का विचार बाहर आकार को ग्रहण कर लेता है। भीतर में उठने वाले आवेग प्रतिक्षण शरीर पर घटित होते हैं और शरीर पर घटने वाली घटना भीतर के प्रकंपनों को प्रभावित करती है। इसलिए भी प्रतिक्षण हमारी मुद्रा में परिवर्तन होता रहता है। उसे तेज गति वाला 'मूविंग कैमरा' भी फिल्मा नहीं सकता। वह भी अनेक उठने वाली तरंगों को स्थूल अवस्था तक पहुंचाने पर भी अंकित कर पाता है। फिल्म पर अभिव्यक्त होने वाली पूरी आकृति कई तस्वीरों का जोड़ है। उसी प्रकार भीतर से उठने वाली भावना के प्रकंपनों का जोड़ एक विशिष्ट आकृति का निर्माण करता है।

7.1 मुद्रा की वैज्ञानिकता

भारतीय मनीषियों ने ध्यान के गहन प्रयोगों से गुजर कर जो अनुभूतियाँ पाई, उनको बाह्य जगत में स्थूल रूप से अभिव्यक्त किया। उनकी खोज दो छोरों पर थी जहाँ उन्हें चैतन्य की गहराई में उतरकर निराकार का अनुभव करना पड़ता था। वहां उस गहन और सूक्ष्म को साकार की ओर संकेत देना पड़ता था। निराकार से उठने वाले प्रकंपन साकार पर एक जैसे प्रतिबिम्बित नहीं होते तब साकार (शरीर) पर निर्मित की हुई आकृति पूर्णरूप से निराकार का प्रतिनिधित्व कैसे कर पाएगी? धर्म के सम्मुख सबसे बड़ी कठिनाई है तो यही है कि अपनी अनुभूतियों को हस्तांतरित अथवा यंत्र प्रदर्शित नहीं कर सकता लेकिन उसके अस्तित्व को ठुकराया भी नहीं जा सकता क्योंकि जो है उसको कितने तर्क से अस्वीकार करें, वह वैसा का वैसा उपस्थित रहता है। हमारे शरीर पर जो कुछ मुद्रित होता है, वह केवल मानसिक एवं शारीरिक घटना ही नहीं है बल्कि उनके साथ-साथ आत्मिक (आंतरिक) भी है।

बाह्य मुद्रा स्थूल है, वह हमारी पकड़ में आती है। उसके सहारे ही हम अन्तर्-यात्रा के लिए उतर सकते हैं। अन्तर् से उठने वाले क्रोध के आवेश के साथ हाथ की मुद्रा एक विशेष प्रकार का आकार ले लेती है। सामान्य अवस्था में जब वैसी ही मुद्रा का प्रयोग करते हैं तब शरीर और मन पर कुछ तनाव अवश्य प्रकट हो जाता है। प्रेम और विनय से भरा चित्त भिन्न मुद्रा में आ जाता है। उसी मुद्रा का पुन: प्रयोग करने से चित्त प्रेम और विनय से पूर्ण बनता है। बाह्य-मुद्रा के निर्माण से चित्त की एक विशेष स्थिति निर्मित हो जाती है। इस विशेष स्थिति से भावना में प्रगाढ़ता आती है। भावना से प्रभावित चित्त अन्तर-लोक में प्रविष्ट हो जाता है। वीतराग-मुद्रा, ज्ञान मुद्रा, ब्रह्म मुद्रा, कायोत्सर्ग मुद्रा, महा मुद्रा, सर्वेन्द्रिय संयम मुद्रा, अनिमेष मुद्रा आदि मुद्राएँ बाहर एवं अंतर को समान करने का माध्यम है। अर्थात् अन्दर से बाहर निर्गमन एवं बाहर से अंदर आगमन का एक माध्यम है मुद्रा।

मुद्रा और पंचतत्त्व

मुद्राएँ व्यक्ति के शरीर में स्विच बोर्ड हैं जिससे शरीर में प्राण-संतुलन बनाया जा सके। शरीर में स्थित चेतना को जगाने में मुद्राएँ सहयोगी बनती हैं। कुछ मुद्राएँ तत्काल प्रभाव डालती हैं तो कुछ लम्बे समय के पश्चात् अपना प्रभाव दिखा पाती हैं। मुद्रा शरीर पर भावों की अनुकृति है। इन अनुकृतियों का विश्लेषण योगियों ने अपने अनुभवों के प्रकाश में किया। ये अनुभूतियाँ कल्पना के आकाश में चित्रित नहीं की गई हैं अपितु यथार्थ के धरातल पर उतारी गई हैं। मुद्राओं के प्रयोक्ताओं का मानना है कि शरीर पांच तत्त्वों का समन्वय है। पांच तत्त्वों के संतुलन से शारीरिक स्वास्थ्य के साथ मन और भावना के विकास की भूमिका का निर्माण होता है।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सचेतन शरीर और अचेतन पिण्ड दोनों का अपना-अपना संस्थान (आकार) है। आकृति के अनुसार उनमें निकलने वाली ऊर्जा का भी विकिरण होता है। उसका अपना प्रभाव होता है। संस्थान की आकृतियां मुख्य रूप से वृत्त, परिमण्डल, त्रिंश, चतुरंश, आयतन आदि प्रकार की होती हैं—

1. वृत्त—गोलाकार (गेंद का आकार), 2. परिमंडल—गोल चूड़ी का आकार,
3. त्रिंश—त्रिभुजाकार, 4. चतुरंश—चौथी का आकार, 5. आयतन—प्रलम्ब डंडे का आकार।

जिस प्रकार का संस्थान होता है उस आकार की प्रति छवियां उस आकार से निकलती रहती हैं। निरन्तर एक प्रकार की आकृतियां निकलते रहने से उसका प्रभाव विस्तृत होता है। जागृत प्राण वाला व्यक्ति जब मुद्राओं द्वारा संस्थान की रचना करता है (अर्थात् मुद्राएँ बनाता है) तब उसका प्रभाव प्रस्फुटित होने लगता है।

आकाश मण्डल से वर्गणाओं या पुद्गल स्कन्धों को जिस समय हम ग्रहण करते हैं, उस समय हमारी जैसी मुद्रा होती है, उनका स्वरूप भी तादाकार हो जाता है। इसलिए मुद्रा और वर्गणा का परस्पर सम्बन्ध है। वातावरण से जैसे व्यक्ति प्रभावित होता है, वैसे ही मुद्रा से भी व्यक्ति के स्नायु तथा ग्रंथि-तंत्र प्रभावित होते हैं। मुद्रा उसी तदाकार परमाणु की आकृतियां बनाकर शरीर से निकलती रहती हैं। उन आकृतियों से न केवल वातावरण प्रभावित होता है बल्कि व्यक्ति का स्वभाव भी प्रभावित होता है। वातावरण और स्वभाव व्यक्तित्व को बदल देते हैं।

शरीर में ठहरा हुआ विजातीय तत्त्व अर्थात् शरीर का विकार रोग है। शरीर उसे बाहर निकालने का प्रयत्न करता है तब इसे रोग की संज्ञा से अभिहित कर देते हैं। मनुष्य के शरीर की रचना इस प्रकार की है कि उसमें विजातीय तत्त्व लम्बे समय तक ठहर नहीं सकते। यदि विजातीय तत्त्व ठहर जाता है तो शरीर में कोई-न-कोई विकृति उत्पन्न हो जाती है। यह विकृति नहीं अपितु सूचना है कि शरीर में विजातीय तत्त्व एकत्र हो गया है। उसे निकालने की व्यवस्था करें। जब निकालने की व्यवस्था नहीं होती है तब शरीर उसे निकालने की कोशिश करता है। विजातीय पदार्थ को निकालने के लिए शरीर स्वत: कुछ मुद्राएँ बनाने लगता है। इन मुद्राओं से शरीर एवं विजातीय पदार्थ को बाहर निकालने में सहयोग मिलता है। मुद्राओं के द्वारा शरीर में ठहरे विजातीय तत्त्वों को बाहर निकलने एवं संतुलित करने की प्रक्रिया होती है।

शरीर में जितने प्रकार की आकृतियाँ होती हैं, उतनी ही मुद्राएँ बन जाती हैं। इस तरह हजारों मुद्राएँ बन जाती हैं। यहां कुछ विशिष्ट मुद्राओं का विवरण दिया जा रहा है जिनका रोग शमन में उपयोग किया जा सकता है। शरीर के अस्वस्थ होने का एक कारण शरीर को स्वस्थ रखने वाले तत्त्वों का संतुलन न होने से शरीर में पांचों तत्त्वों का संतुलन बिगड़ जाना है। जब तक शरीर में पांचों तत्त्वों—पृथ्वी, पानी, हवा, अग्नि और आकाश में संतुलन बना रहता है, शरीर स्वस्थ रहता है। हाथ की पांचों अंगुलियां अलग-अलग तत्त्वों की प्रतीक हैं—

अंगूठा—अग्नि तत्त्व का वाहक तर्जनी—वायु तत्त्व की वाहक
मध्यमा—आकाश तत्त्व की वाहक अनामिका—पृथ्वी तत्त्व की वाहक
कनिष्ठा—जल तत्त्व की वाहक

यद्यपि मुद्रा का उपयोग आसनों के साथ किया जाता है तथापि मुद्राओं का वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत महत्त्व है। प्रतिदिन सामान्य घटने वाली बाह्य जगत् की क्रियाओं के प्रति हम सचेत रहते हैं। कुछ मुद्राओं द्वारा इन अनैच्छिक शरीरगत प्रतिक्रियाओं पर नियंत्रण रखा जा सकता है। मुद्राओं का अभ्यास साधक को सूक्ष्म शरीरगत प्राण-शक्ति की तरंगों के प्रति जागरूक बनाता है। अभ्यासी इन शक्तियों पर चेतन रूप से नियंत्रण प्राप्त करता है। फलत: व्यक्ति अपने शरीर के किसी अंग में उसका प्रवाह ले जाने या अन्य व्यक्ति के शरीर में उसे पहुंचाने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। किसी अंग में मुद्राओं का ग्रंथितंत्र पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। मुद्राओं से ग्रंथियां सदैव क्रियाशील एवं स्वस्थ रहती हैं। इन ग्रंथियों की क्रिया शीलता के कारण ही व्यक्ति स्वस्थ रह सकता है।

7.2 मुद्राओं के प्रकार

शास्त्रों में दो प्रकार की मुद्राएँ विशेष रूप से देखने में आती हैं—योगमुद्रा एवं हस्तमुद्रा।

घेरण्ड संहिता, हठयोग प्रदीपिका, शिवसंहिता आदि मं योग मुद्राओं के नाम इस प्रकार दिये हुए हैं। घेरण्ड संहिता में 25 मुद्राओं का वर्णन है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयान जलंधरम्।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी।।1।।

विपरीतकरिणी योनि वज्रोली शक्तिचालिनी।
तड़ागी मांडवी मुद्रा शाम्भवी पंचधारणा।।2।।

अश्विनी, पाशिनी काकी मांतगी च भुजंगिनी।
पंचविंशति मुद्रावै सिद्धिदाश्चेह योगिनाम।।3।।

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जलंधर, मूलबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोली, शक्ति तड़ागी, माण्डवी शाम्भवी, पंचधारण अश्विनी, पाशिनी काकी, मातंगी और भुजंगिनी योगियों को सिद्धि देने वाली है।

इनकी साधना श्रम साध्य है। इनको सिद्ध करने में आसन, प्राणायाम, धारणा की अपेक्षा रहती है। इन मुद्राओं में आसन, प्राणायाम, बन्ध एवं धारणाओं का योग होने से सामान्य व्यक्ति इनका पूरा उपयोग नहीं कर पाता। साथ ही ऐसे प्रयोगों के लिए पूरा प्रशिक्षण आवश्यक है।

राजयोग में बताया गया है कि धारणा की सिद्धि के लिए निम्नलिखित मुद्राओं का अभ्यास आवश्यक होता है—

1. आगोचरी मुद्रा—इसमें मनोवृत्ति को नासिका के अग्र पर स्थिर किया जाता है। (प्रेक्षाध्यान में यह प्राण केन्द्र का स्थान है।)

2. भूचरी मुद्रा—इसमें मनोवृत्ति को नासिका के अग्र से चार अंगुल दूर अवकाश में स्थिर किया जाता है।

3. खेचरी मुद्रा—इसमें आज्ञा चक्र में मनोवृत्तियों को स्थिर किया जाता है।

4. शाम्भवी मुद्रा—इसमें मन को आज्ञा चक्र में स्थिर कर दृष्टि को नासाग्र से अधिक से अधिक एक गज या कम से कम एक फुट दूर अवकाश में मन:कल्पित ध्येय में मनोवृत्तियों को स्थिर किया जाता है। इसमें बहिर्लक्ष्य का अन्तर्लक्ष्य होता है।

7.3 अभ्यास-प्रक्रिया

अधिकांश मुद्राओं का अभ्यास बंध, आसन एवं प्राणायाम के साथ किया जाता है। ये संयुक्त अभ्यास कहलाते हैं। इनके निश्चित एवं अपूर्व लाभ होते हैं। ये अत्यन्त शक्तिशाली अभ्यास हैं। इनके अभ्यास से बाह्य जगत् से सम्बन्ध एक बार विच्छिन्न हो जाता है। इन्द्रियां अन्तर्मुखी हो जाती हैं। प्रत्याहार की अवस्था निर्मित होती है। इनका अभ्यास आध्यात्मिक साधकों के लिए अत्यन्त उपयोगी होता है। चित्त को एकाग्र करने में सहायता मिलती है। अत: ये अभ्यास आसन एवं प्राणायाम से अधिक शक्तिशाली माने जाते हैं।

इनके अभ्यास के लिए कुशल निर्देशन की आवश्यकता होती है। परिपक्वता के बाद इनका अभ्यास स्वत: किया जा सकता है। आसन एवं प्राणायाम में प्रगति के बाद बन्ध एवं मुद्राओं का समन्वय उनके साथ किया जाता है। इससे अधिक लाभ होता है प्राणायाम से। जब प्राण का प्रवाह संतुलित हो जाता है तो बंधों के अभ्यास से प्राण के प्रवाह पर नियंत्रण हो जाता है। इससे आवश्यकतानुसार प्राण को विशेष प्रदेश में प्रवाहित करते हुए उसके अपव्यय को रोका जाता हैं। इनके समन्वय से व्यक्ति में आध्यात्मिक शक्तियां जागृत होती हैं तथा उच्च योग का प्रारंभ होता है। बन्धों के अभ्यासी को श्वास रोकने की भी आवश्यकता पड़ती है। कुम्भक की अवधि को अभ्यास के द्वारा बढ़ाया जा सकता है। कुम्भक बन्ध एवं प्राणायाम का अनिवार्य अंग है। अभ्यासी को धीरे-धीरे कुम्भक लगाने की क्षमता बढ़ानी चाहिए।

अत: कहा जा सकता है कि मुद्रा का महत्त्व ध्यान-योग के संदर्भ में बहुत उपयोगी है। प्रेक्षाध्यान भाव-परिवर्तन की एक प्रक्रिया है। जैसे हमारे भाव होते हैं, वैसी हमारे शरीर की मुद्राएँ बनती हैं। अगर हम आलस्य में है तो शरीर की वैसी ही मुद्रा बनेगी। अगर शोक में है तो वैसी मुद्रा बनेगी। इस तरह प्रसन्नता, जल्दबाजी, धैर्य, जिज्ञासा, अहंकार, क्रोध, लोभ, आसक्ति, घृणा आदि जितने भी भाव हैं, उतनी ही उनकी मुद्राएँ स्पष्टतया शरीर पर दृष्टिगोचर होने लगती है। प्रेक्षाध्यान का एक उद्देश्य है—निषेधात्मक भावों का निरसन और विधेयात्मक भावों का विकास। अगर हम विधेयात्मक भावों की मुद्राएँ ध्यान-काल में अथवा जीवन में निरंतर काम में लें तो भीतर में हमारे भाव भी उसी अनुपात में बदलते नजर आएँगे। इसलिए प्रेक्षाध्यान साधना में जिस प्रकार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आसनों का महत्त्व है, उसी प्रकार मुद्राओं का भी है। प्रेक्षाध्यान में चित्त की पवित्रता व स्थिरता पर विशेष बल दिया जाता है। इसके साथ ही शरीर की स्थिति एवं मुद्रा पर भी ध्यान दिया जाता है। शरीर पर उभरने वाली मुद्राएँ अंतरंग भावों की अभिव्यक्ति होती है। सप्रयत्न की जाने वाली बाह्य मुद्राएँ भी आंतरिक भावों को उद्दीप्त करने में निमित्त बनती हैं। अत: कहा जाता है—जैसी मुद्रा, वैसे भाव; जैसे भाव वैसी मुद्रा। अत: मुद्रा प्रेक्षाध्यान में ध्यान के सहायक अंग के रूप में स्वीकृत है। प्रेक्षाध्यान में मुख्यत: दो प्रकार की मुद्राओं का विशेष प्रयोग किया जाता है, जो निम्न हैं—

1. ज्ञान मुद्रा—इसमें दोनों हथेलियों को घुटने पर स्थापित किया जाता है। अंगुठे एवं तर्जनी के अग्र भागों को मिलाकर शेष तीनों अंगुलियां सीधी रखी जाती हैं। ज्ञान वृद्धि में यह मुद्रा उपयोगी मानी जाती है।

2. वीतराग मुद्रा—इस मुद्रा में दोनों हथेलियां नाभि के नीचे स्थापित कर बांयी हथेली नीचे एवं दांयी हथेली नीचे रखी जाती हैं। दोनों अंगुठे आपस में सटे रहते हैं। वीतरागता के विकास में यह मुद्रा उपयोगी मानी जाती है।

8.0 ध्वनि

ध्वनि का एक रूप कोलाहल है तो दूसरा रूप लयबद्ध संगीत। ध्वनि का प्रथम रूप प्रदूषण फैलाता है, मानसिक तनाव देता है तो द्वितीय रूप मानसिक शांति एवं स्फूर्ति का अनुभव करवाता है। ध्वनि का सम्यक् उपयोग शरीर, मन तथा भावों आदि की स्वस्थता में सहायक होता है। ध्वनि के इस सम्यक् स्वरूप का प्रयोग हमारे ऋषि, मुनि न जाने कितने वर्षों से करते आ रहे हैं। जीवन विज्ञान के अंतर्गत ध्वनि का उपयोग स्वास्थ्य एवं आध्यात्मिक लाभ की दृष्टि से किया जाता है। इसमें मुख्यत: दो ध्वनियों को विशेष महत्त्व दिया जाता है। वे हैं—अर्हम् ध्वनि एवं महाप्राण ध्वनि।

8.1 अर्हम्-ध्वनि

'अर्हम्' जैन जगत् का एक चर्चित एवं शक्तिशाली मंत्र है। शरीर में मूल शक्ति का स्रोत है—प्राणशक्ति, ऊर्जा। अर्हम् की ध्वनि से प्राणशक्ति सक्रिय होती है। इस मानव-शरीर की जो सोई हुई शक्ति है उसका प्रस्फोटन होता है। व्यक्ति को अपनी अर्हता का बोध एवं स्वयं में शक्ति सम्पन्नता का बोध होता है।

ध्वनिशास्त्र के अनुसार हमारे शरीर में उच्चारण के 8 स्थान हैं—उर, कण्ठ, सिर, जिह्वामूल, दांत, नासिका, ओष्ठ और तालु। 'अर्हम्' के ही उच्चारण से निर्मित बाह्य ध्वनि तरंगों से व्यक्ति प्रभावित होता है। इस ध्वनि से व्यक्ति की अंतर्प्रज्ञा का जागरण होता है। 'अ' का उच्चारण कण्ठ से होता है। 'र' का मूर्धा से होगा, 'ह' का कंठ से होगा, म् का ओष्ठ से होगा। 'अ' का करते समय चित्त-विशुद्धि केन्द्र (कंठ) पर केन्द्रित रहता है और म् का उच्चारण करते समय चित्त ज्ञान केन्द्र (चोटी) के स्थान पर केन्द्रित रहता है।

8.1.1 शरीर-शास्त्रीय दृष्टिकोण

प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में 'अ' का उच्चारण स्थान कंठ है। यह थायराइड ग्रंथि का स्थान है। यह चयापचय का उत्तरदायी है। यहां के स्राव मन व शरीर को प्रभावित करते हैं। 'र्ह' का उच्चारण मूर्धा एवं कंठ से होता है तो इसका प्रभाव मस्तिष्क के अगले हिस्से यानि शांति केन्द्र पर जो हाइपोथेलेमस का स्थान है। यह भावना का स्थान है। सूक्ष्म व स्थूल शरीर का केन्द्र बिन्दु मध्यवर्ती स्थान है। ये सभी इससे प्रभावित होते हैं। अर्हम् हमें अस्तित्व का बोध कराता है। मनुष्य के भीतर सहज आनंद को जागृत करने वाला है। अर्हं मानसिक तनाव को दूर करने वाला है। यह मन:कायिक रोगों से बचाता है। विकल्पों को शांत करता है।

8.2 महाप्राण ध्वनि

महाप्राण ध्वनि साधना-मार्ग में खोजी गई एक विलक्षण ध्वनि है जिसके बार-बर गुंजन करने से शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्तर पर लाभदायक परिणाम अनुभव किये जा सकते हैं। महाप्राण ध्वनि की ध्वनि-तरंगें पूरे मस्तिष्क में फैल जाती है और मस्तिष्क को सक्रिय बनती है। विचारों की चंचलता शांत होती है। ध्यान का वातावरण निर्मित होता है। मन की एकाग्रता बढ़ती है। दीर्घकाल तक अभ्यास करने से प्राण-शक्ति और स्मरण शक्ति का विकास होता है।

8.2.1 ध्वनि-तरंगों का शरीर-शास्त्रीय प्रभाव

ध्वनि का जब उच्चारण किया जाता है तब ध्वनि तरंगें समूचे पसली-पंजर में गूंजती हुई फेफड़ों के वायु-प्रकोष्ठ पर पहुंचती है। इन प्रकंपनों से फेफड़े की कोशिकाएँ सक्रिय एवं सप्राण होकर ऑक्सीजन-कार्बन-डाई-ऑक्साइड के विनिमय को पूरी क्षमता के साथ संपादित करती है। इस ध्वनि का अंतिम गुंजन मस्तिष्क में होता हुआ कपालीय तंत्रिकाओं को झंकृत करता है तथा उनका कायाकल्प करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

8.2.2 ध्वनि-प्रकंपनों का मानसिक प्रभाव

ध्वनि-तरंगों से भावनात्मक प्रभाव शारीरिक प्रभावों की तुलना में और अधिक महत्त्व रखते हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है—संगीत। संगीत के स्वरों का मनुष्य एवं अन्य प्राणियों के भावों पर बहुत गहरा असर होता है। आज यह प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि ध्वनि द्वारा किये जाने वाले आंतरिक प्रकंपनों के प्रभाव से न केवल मांसपेशियों का शिथिलीकरण किया जा सकता है अपितु ग्लानि, विषाद और हीन-भावना जैसी मनोदशाओं को भी दूर किया जा सकता है।

जब हम मौन होते हैं तब भी बहुत बार हम मानसिक वाक्य-रचना द्वारा अपने स्वर-यंत्र को बहुत व्यस्त रखते हैं। इस प्रकार अपनी स्नायविक ऊर्जा का अधिक मात्रा में अपव्यय करते रहते हैं। अर्हं ध्वनि के उच्चारण के समय हमारी मानसिक वाक्य रचना की क्रिया समाप्त हो जाती है और इस प्रकार उस अपेक्षा से व्यर्थ ऊर्जा-व्यय से हम अपने आपको बचा लेते हैं।

अर्हं ध्वनि की तरंगों के द्वारा हम शामक-विद्युत-चुम्बकीय तरंगों को उत्पन्न करते हैं जो लगातार उसी आवृत्ति वाले अनुनादी स्पन्दनों को शरीर में उत्पन्न करती रहती हैं। नवीनतम शरीर-शास्त्रीय अनुसंधानों से ज्ञात हुआ है कि इन स्पन्दनों का हमारी अन्तःस्रावी ग्रंथियों पर गहरा प्रभाव पड़ता है जिनके द्वारा हमारी भावधारा, चिंतन एवं आचरण को प्रभावित किया जा सकता है।

ध्वनि-प्रकंपनों के प्रभाव से हमारी अनैच्छिक तंत्रिका-संस्थान की दो धाराओं—अनुकंपी एवं परानुकंपी तंत्रिकाओं के बीच अधिक अच्छा संतुलन स्थापित होता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आसन, प्राणायाम, मुद्रा की तरह ही ध्वनि का भी अपना विशेष महत्त्व है। ध्यान-योग की साधना में मंत्रों के द्वारा कई प्रकार की ध्वनियों का निर्माण होता है। ये ध्वनि तरंगें पूरे वायु मंडल में व्याप्त होकर विभिन्न प्रकार की सिद्धियों को देने से सहायक होते हैं। अतः उचित आहार-विहार, एक निश्चित समय, उपयुक्त वस्त्र आदि का पालन करते हुए मंत्रों की साधना से साधक लाभ उठा सकता है।

बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

1. श्वास-प्रश्वास के गति-विच्छेद को क्या कहते हैं?
2. शरीर के स्विच-बोर्ड क्या हैं?
3. रोग किसे कहते हैं?
4. मनोवृत्तियों को स्थिर करने में कौन-सी मुद्रा उपयोगी है?
5. हमारे शरीर में उच्चारण के कितने स्थान हैं?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न—

1. प्राणायाम का परिचय दीजिए।
2. प्राणाम का प्रयोजन क्या है?

3. निबंधात्मक प्रश्न—

1. प्राणायाम का आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक आधार बताइये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
2.0 भूमिका
3.0 कायोत्सर्ग का प्रयोजन
4.0 कायोत्सर्ग का वैज्ञानिक दृष्टिकोण
5.0 कायोत्सर्ग का आध्यात्मिक दृष्टिकोण
6.0 कायोत्सर्ग की निष्पत्तियां

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ के द्वारा निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है—

1. कायोत्सर्ग के प्रयोजन को समझा जा सकेगा,
2. कायोत्सर्ग के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को समझा जा सकेगा,
3. कायोत्सर्ग की निष्पत्तियों को समझा जा सकेगा।

2.0 भूमिका

मानव जीवन विश्व–वृत्त पर सभ्यता एवं संस्कृति का निर्माण करता है। विश्व की अनेक संस्कृतियों में एक है भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति जो अति प्राचीन है। जिस मानव जीवन से भारतीय संस्कृति का उद्‌भव हुआ है उसी मानव जीवन को पुनः पोषित करने का कार्य भी इसी संस्कृति के माध्यम से दीख पड़ता है। आज हमारी भारतीय संस्कृति इतनी समृद्ध एवं संस्कारित है कि वह हमें जीवन के प्रत्येक पहलू की जानकारी देती है। हर आने वाले क्षण के प्रति सावधान कराती है। मूलतः यह सम्पूर्ण संस्कृति स्वयं में अनेक विध ाओं को समाहित किए हुए हैं जो हमारे जीवन को विभिन्न दृष्टिकोणों से संचालित करती रहती है। प्राचीन समय से अद्यतन शांति, सौहार्दपूर्ण जैसे नैतिक मूल्यों की स्थापना एवं अस्तित्व की प्रेरणा देने वाली एक विद्या है—अध्यात्म योग।

आज हम विज्ञान के क्षेत्र में उसके विकास को देखें। छोटे से समयान्तराल में उसने विश्वक्षितिज एवं जटिल मानवीय जीवन की अनेक परतों को सामने खोल कर रख दिया है। सम्पूर्ण मानव–जाति को अनेक सुख–सुविधाओं से सम्पन्न बनाया है। भोग–विलासिता को जीते हुए जब व्यक्ति रोगग्रस्त होता है, उसका भी समाधान विज्ञान ने दिया है किंतु कुछ ऐसी सीमाएँ या बीमारियाँ हैं जिनके अभी तक विज्ञान भी समाहित नहीं कर पाया है। तब जाकर हम सिंहावलोकन करते हैं, अध्यात्म योग में प्रवेश करते हैं जहाँ उपचार के साथ–साथ स्वस्थता में निरंतरता बनाए रखने के भी उपाय उपलब्ध हैं। तनाव जैसी अनसुलझी समस्या के लिए योग एक उपाय बताता है, शिथिलीकरण अर्थात् कायोत्सर्ग। इस पद्धति को अनेक वैज्ञानिकों एवं चिकित्सकों ने प्रयोग एवं शोध के द्वारा प्रमाणित किया है।

3.0 कायोत्सर्ग का स्वरूप

ध्यान का अर्थ है—प्रवृत्ति का निरोध। महर्षि पतंजलि ने भी कहा है कि योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। चित्तवृत्ति या प्रवृत्ति किसी बिन्दु तक समान होती है। मानव जीवन में ये प्रवृत्तियां कायिक, वाचिक और मानसिक स्तर पर विभिन्न रूपों में पाई जाती हैं। शरीर की चंचलता, वाणी का प्रयोग और मन की क्रिया—इन सबको भी एक शब्द में योग कहा जाता है। इन तीनों का निरोध ा करना ही ध्यान या योग का उद्देश्य है। परिणामतः ध्यान के भी तीन प्रकार हो जाते हैं—कायिक ध्यान, वाचिक ध्यान एवं मानसिक ध्यान। इनमें से कायिक ध्यान ही कायोत्सर्ग कहलाता है। इसे काय–गुप्ति, काय–संवर, काय–विवेक, काय–व्युत्सर्ग और काय–प्रतिसंलीनता भी कहा जाता है। कायोत्सर्ग का अर्थ है—काय या शरीर का व्युत्सर्ग और चैतन्य की जागृति। यहां पर शरीर के व्युत्सर्ग से तात्पर्य है शरीर की बाह्य स्थूल प्रवृत्तियों का निरोध, सभी ऐच्छिक मांसपेशियों की शिथिलता एवं चयापचय जैसी सूक्ष्म आंतरिक क्रियाओं का मंदीकरण। इस शारीरिक स्थिति में मात्र शरीर की गति की मंदता नहीं अपितु सहज ही साथ में मानसिक तनाव का भी विसर्जन होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मानसिक एकाग्रता के लिए प्रथमत: आवश्यक है—शरीर की स्थिरता और शिथिलता। शरीर स्थिर तो चित्त भी स्थिर। मात्र शरीर स्थिर होने से भी चित्त की स्थिरता प्राप्त नहीं होती जब तक अंतरमौन की साधना नहीं सधती। उसके लिए जरूरी है कि शरीर का कायोत्सर्ग करने के बाद स्वरयंत्र का शिथिलीकरण किया जाए। स्वरयंत्र एक ऐसा अंग है जो अनैच्छिक एवं आंतरिक अंग होते हुए भी हमारी बाहर की प्रवृत्तियों को प्रभावित करता है। मनुष्य का हर विचार स्वरयंत्र की चंचलता से पैदा होता है। हमें इस चंचलता को कम करना है। तभी हम अन्तर्मौन की स्थिति को प्राप्त कर सकेंगे और अन्तर्मौन सध जाने पर मन की स्थिरता सहज ही प्राप्त होती है।

कायोत्सर्ग से मन की स्थिरता के अतिरिक्त तनाव-मुक्ति, असीम शांति, असीम आनंद, अविचलित अवस्था का अनुभव और अंतत: शरीर और चेतना की पृथक्ता की अनुभूति होती है। इसे दूसरे शब्दों में भेद-विज्ञान भी कहा जाता है। शारीरिक और मानसिक तनाव से मुक्ति पाने के लिए कायोत्सर्ग का अभ्यास बहुत फलदायी है। यह तनाव से उत्पन्न होने वाली विभिन्न मनोकायिक विषमताओं का निर्दोष एवं सक्षम उपाय है।

4.0 कायोत्सर्ग का प्रयोजन

कायोत्सर्ग के दो मुख्य प्रयोजन निम्न हैं—

4.1 मन:कायिक (Psychosomatic) प्रयोजन

उच्च रक्तचाप की बीमारी होने पर भी बहुत वर्षों तक उसके रोग-लक्षण सामान्यत: सामने नहीं आते हैं क्योंकि इस बीमारी का मायावी स्वभाव अपना खतरनाक प्रभाव छिपाकर अपने आपको निर्दोष प्रतीत कराता है। अंततोगत्वा यह बीमारी हृदय या मस्तिष्क को क्षतिग्रस्त कर देती है अथवा व्यक्ति को एकाएक मृत्यु के मुंह में ढकेल देती है। यह बीमारी प्रत्यक्ष रूप में अथवा धमनियों के कड़ेपन के बढ़ जाने से परोक्ष रूप में हृदय और मस्तिष्क के ऊतकों के विनाश का कारण बन जाती है। जब धमनी का कड़ापन बढ़ जाता है तब सामान्य रूप से उसका विनाश हमारे तीन प्राणाधार (Vital) अवयवों में से किसी एक को बनाया जाता है—हृदय, मस्तिष्क या गुर्दे।

उच्च रक्तचाप या हाइपरटेंशन हृदय को ऊंचे दबाव पर रक्त पम्प करने के लिए बाध्य कर देता है। इससे हृदय को अधिक कठोर श्रम करना पड़ता है तथा इस पर क्षतिकारक दबाव पड़ता है। उक्त रक्तचाप की यह बीमारी इसीलिए ज्यादा खतरनाक है कि इससे धमनियों के कड़े बनने की गति तेज हो जाती है। धमनियों के कड़ेपन का मुख्य कारण है—धमनियों के अंदर की दीवालों पर रक्त के थक्के, वसा (या चर्बी) और कैल्सियम आदि की परत जमना सामान्य रूप से नरम और लचीलापन नष्ट हो जाता है तथा वे आंशिक रूप से अथवा पूर्ण रूप से अवरूद्ध हो जाती हैं। इस अवरोध या रुकावट के घोर परिणाम आ सकते हैं।

धमनियों के कड़ेपन की बीमारी (etheros-clerosis) होने का खतरा रक्तचाप बढ़ाने के साथ बढ़ता जाता है अर्थात् जितना-जितना रक्तचाप बढ़ता है, उतना-उतना खतरा बढ़ता है। यदि हृदय-धमनियाँ (Coronaries), जो बहुत पतली होती है अवरुद्ध हो जाएँ तो हृदय की कोशिकाओं की मृत्यु हो जाती है तथा दिल का दौरा पड़ जाता है। यदि मस्तिष्क की धमनियों में अवरोध पैदा हो जाए तो मूर्च्छा, मस्तिष्क की नस का फटना (Brain Haemorrhage) या पक्षाघात के दौरे पड़ना आदि घटित हो सकता है। इस प्रकार सतत् बने रहने वाला उच्च रक्तचाप या हाइपरटेंशन हार्ट-अटैक का एक अप्रत्यक्ष कारण है।

हाइपरटेंशन का एक प्रमुख प्रकार है—अव्याख्येय (essential) हाइपरटेंशन, जिसका अनुपात है—90 से 95 प्रतिशत। इनके कारणों का अब तक पता नहीं चला है। सामान्य रूप से मानसिक दबाव (या तनाव) को इसका कारण माना जाता है। क्रोध, भय, चिंता जैसे भावात्मक आवेश, आवेग इसके होने में मुख्य रूप से कारणभूत होते हैं। यद्यपि यह बात सामान्य रूप से मानी जाती है, फिर भी चिकित्सा शास्त्रियों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है। दबावपूर्ण स्थितियां और इनसे उत्पन्न होने वाले तनाव बहुधा इस प्रकार के अव्याख्येय हाइपरटेंशन के प्रत्यख या परोक्ष निमित्त बन सकते हैं।

यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि क्या हम हाइपरटेंशन के अपरिहार्य खतरनाक परिणामों से बच सकते हैं? क्या हमारे शरीर के भीतर ऐसी कोई प्रणाली है, जो दबाव की प्रणाली से नितान्त विलोम रूप में कार्य कर सके?

इसका उत्तर है—हाँ है। सौभाग्य से हमारे शरीर में दबावपूर्ण स्थितियों का प्रतिकार करने के लिए एक आन्तरिक प्रणाली है, जिसे सक्रिय करने से निश्चित रूप से रक्तचाप को घटाया जा सकता है। हाइपरटेंशन के मरीजों को इस प्रतिरक्षात्मक प्रणाली को प्रवर्तित करना सिखाया जा सकता है, जिससे वह अपने रक्तचाप को कम कर सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कायोत्सर्ग का प्रयोग रक्तचाप को कम करने का एक उपचार है। युगों-युगों से यह प्रयोग मानवीय परम्पराओं में प्रचलित रहा है। चूंकि निरंतर बने रहने वाला उच्च रक्तचाप धमनी-काठिन्य जैसी खतरनाक बीमारी पैदा करने में निमित्तभूत होता है, आनुषंगिक दुष्परिणाम न हो ऐसे किसी भी उपाय से रक्तचाप को कम करना श्रेयस्कर होगा। हाइपरटेंशन का प्रतिकार करने वाली औषधियाँ हमारे अनुकंपी नाड़ी-संस्थान की प्रवृत्ति को निरुद्ध कर रक्तचाप को कम कर देती है किंतु ऐसी औषधियां खतरनाक आनुषंगिक दुष्परिणाम लाती हैं और उससे अधिक गंभीर समस्याएँ पैदा हो सकती हैं। उपर्युक्त औषधियों की तरह कायोत्सर्ग के प्रयोग से उच्च रक्तचाप को कम किया जा सकता है पर यह एक निरापद मार्ग है। कायोत्सर्ग के नियमित अभ्यास का मूल्य इसलिए बढ़ जाता है कि औषधियों के साथ उत्पन्न होने वाले आनुषंगिक दुष्परिणामों का कायोत्सर्ग के प्रयोग में सर्वथा अभाव होता है।

कायोत्सर्ग करने का एक अन्य मुख्य कारण है उसकी भावनात्मक रोगों को रोकने की शक्ति। अनुकंपी नाड़ी संस्थान की अत्यधिक सक्रियता के दुष्परिणामों से बचने का यह एक सहज और निरापद मार्ग है। इसका अर्थ यह हुआ कि यह प्रयोग उन भावनात्मक बीमारियों को भी शांत करने का बहुत उपयोगी उपाय है जिनकी उत्पत्ति बढ़ी हुई अनुकंपी-नाड़ी संस्थान की सक्रियता पर आधारित है।

कायोत्सर्ग का एक उपचारात्मक प्रयोग के रूप में दूसरा महत्त्वपूर्ण उपयोग है — धूम्रपान, मद्यपान जैसे मादक पदार्थों के व्यसन से पीड़ित व्यक्ति को व्यसन-मुक्त करना। भांग, चरस, गांजा, अफीम एवं उससे निकाले गए हेरोइन, कोकीन तथा एल. एस.डी. आदि खतरनाक नशीले या घातक पदार्थ हैं जो सेवन करने वाले व्यक्ति के स्वास्थ्य को बुरी तरह से बिगाड़ देते हैं तथा बहुधा उसे अकाल मृत्यु के मुंह में धकेल देते हैं।

प्रेक्षाध्यान पद्धति के विभिन्न ध्यान-प्रयोगों के साथ कायोत्सर्ग के नियमित अभ्यास द्वारा कोई भी व्यक्ति सर्वथा व्यसन-मुक्त हो सकता है। इतना ही नहीं, वस्तुतः कायोत्सर्ग का प्रभाव व्यक्ति की उन मौलिक प्रवृत्तियों पर पड़ता है, जो उसे नशे का सेवन करने के लिए बाध्य कर देती हैं। इस प्रकार कायोत्सर्ग नशीले पदार्थों का एक अरासायनिक विकल्प है जो सर्वथा निर्दोष या निरापद ही नहीं अपितु स्वास्थ्यवर्धक है। नशीले पदार्थों के सेवन से जो मस्ती आती है उसकी अपेक्षा ध्यान द्वारा होने वाली आनंदानुभूति अधिक गहरी और निर्दोष होती है।

4.2 आध्यात्मिक प्रयोजन (अध्यात्म की यात्रा)

यदि हमें अपनी स्थूल चेतना की बात को भीतर में — सूक्ष्म तक पहुंचाना है तो कायोत्सर्ग करना आवश्यक है। यदि शरीर की प्रवृत्तियों का और स्नायविक प्रवृत्तियों का शिथिलीकरण नहीं है तो बात भीतर तक नहीं पहुंच सकती। कायोत्सर्ग दोनों ओर से किया जा सकता है — बाहर से भीतर की ओर अथवा भीतर से बाहर की ओर। बाहर से चलेंगे तब सबसे पहले हाथों, पैरों, वाणी और इन्द्रियों का संयम करना होगा। जब हम भीतर से चलेंगे तब उस मुद्रा में बैठना होगा जिससे मन की दिशा और प्राण की धारा बदल जाए — मन और प्राण की सारी ऊर्जा, भीतर की ओर बहने लग जाए। यदि मन भीतर की ओर रम गया, यदि अस्तित्व और चैतन्य को कोई झलक मिल गई तो शरीर के समस्त अवयव अपने आप शांत हो जाएँगे। प्रयत्न करने की कोई आवश्यक या अपेक्षा न होगी। जब हाथ, पैर और वाणी का संयम — शिथिलीकरण घटित होता है तब इन्द्रियों के तनाव कम हो जाते हैं। उनमें उठने वाली आकांक्षाओं की तरंग कम हो जाती है तब अध्यात्म की यात्रा शुरू होती है। अध्यात्म की यात्रा शुरू करने के लिए सबसे पहली शर्त है — कायोत्सर्ग।

4.2.1 शक्ति सुरक्षा

साधना में कायोत्सर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कायोत्सर्ग करने का उद्देश्य क्या है? इसका एक उद्देश्य है कि शक्ति का जो व्यर्थ ही व्यय हो रहा है, उसे रोका जाए। मांसपेशियों के तनाव में रहने से शरीर के द्वारा जो शक्ति खर्च हो रही है, उसे बचाया जा सके।

दूसरे शब्दों में कायोत्यर्ग की सारी प्रक्रिया इसीलिए है कि शक्ति को बचाया जा सके और शक्ति का सही अर्थ में उपयोग किया जा सके। इसका एकमात्र उपाय है — कायोत्सर्ग। हम कायोत्सर्ग करें, शिथिलता का अनुभव करें।

4.2.2 स्वभाव परिवर्तन

अध्यात्म ने मनुष्य को बदलने की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया दी। उस प्रक्रिया के अनेक चरण हैं। इसका पहला चरण है — कायोत्सर्ग। इससे पुरानी आदतों में परिवर्तन आता है — मन का शोधन होता है। कायोत्सर्ग बुरे स्वभावों को बदलने वाला

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है। जो कायोत्सर्ग की प्रक्रिया को नहीं जानता, वह स्वभाव-परिवर्तन नहीं कर सकता। 'सेल्फ-हिप्नोटिज्म' के विशेषज्ञों ने उसके लिए सबसे पहला जो सूत्र दिया है, वह है—'ओटो रिलेक्सेशन'—स्व-शिथिलीकरण। यह कायोत्सर्ग की प्रक्रिया है। चाहे स्वभाव को बदलना हो, चाहे किसी बीमारी की चिकित्सा करनी हो तो सबसे पहले कायोत्सर्ग करना होगा।

4.2.3 चित्त शुद्धि

मानसिक शांति का सबसे बड़ा उपाय है—चित्त-समाधि। चित्त-समाधि के लिए आवश्यक है—चित्त की शुद्धि। चित्त की शुद्धि का सबसे बड़ा सूत्र है—शरीर की स्थिरता। शरीर जितना स्थिर होता है, उतना ही चित्त शुद्ध होता है। चित्त की अशुद्धि का सबसे बड़ा कारण है—चित्त की चंचलता। शरीर की स्थिरता हुए बिना चित्त की स्थिरता नहीं होती। शरीर की स्थिरता हुए बिना श्वास शांत नहीं होता, मौन नहीं होता, मन शांत नहीं होता, स्मृतियां शांत नहीं होती, कल्पनाएँ समाप्त नहीं होती, विचार का चक्र रुकता नहीं। इसलिए सबसे पहले आवश्यक है—कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग होता है तो अनायास सारी बातें हो जाती हैं।

4.2.4 समस्या का समाधान

जब कोई समस्या सामने आती है, आप सोचते हैं कि समस्या का समाधान कैसे मिले? एकांत में जाकर बैठते, शांत होकर बैठते, समस्या का समाधान मिल जाता है। जीवन की यात्रा चलाने वाला, व्यवहार की भूमिका पर जीने वाला हर व्यक्ति समय-समय पर कायोत्सर्ग करता है। अध्यात्म की यात्रा करने वाले व्यक्ति के लिए तो इसके सिवाय और कोई विकल्प ही नहीं है। जो कायोत्सर्ग की सम्यक् आराधना नहीं करता, कायोत्सर्ग को ठीक से नहीं साधता, वह अध्यात्म के क्षेत्र में कोई प्रगति नहीं कर सकता।

5.0 कायोत्सर्ग का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

कायोत्सर्ग के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को समझने के लिए निम्न बिन्दुओं को समझना आवश्यक है—

5.1 दबाव की कार्य पद्धति

कायोत्सर्ग तनाव-विसर्जन की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को सीखना स्वस्थ रहने के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बोध-पाठ है। कायोत्सर्ग का अभ्यास दबाव द्वारा उत्पन्न हानिकारक प्रभावों को निष्फल करने के लिए किया जाता है। कायोत्सर्ग क्या है? इसे समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि दबाव क्या है?

''दबाव'' शब्द भौतिक शास्त्र का शब्द है जो पदार्थ के किसी भाग पर पड़ने वाले चाप या दाब का द्योतक है। जब किसी भी पदार्थ पर पड़ने वाले दाब से पदार्थ के आकार में परिवर्तन हो जाता है तो उसे तनाव या टान कहा जाता है।

इस प्रकार प्रस्तुत संदर्भ में तनाव का अर्थ होगा—व्यक्ति के सामान्य सुख-चैन पूर्ण जीवन में पैदा होने वाली गड़बड़ी, परिवर्तन या बेचैनी। जो भी परिस्थिति हमारी सामान्य जीवनधारा को अस्त-व्यस्त कर दे उसे तनाव पैदा करने वाली परिस्थिति या दबाव कहा जाता है। दबाव या तनाव पैदा करने वाली स्थितियाँ आंतरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार की होती हैं। ''दबाव'' विषयक अंतर्राष्ट्रीय अधिकृत विद्वान डॉ. हान्स सेल्ये के अनुसार सर्दी-गर्मी, गुस्सा, मादक वस्तुओं का सेवन उत्तेजना, दर्द, शोक और हर्ष भी—ये सारे ''दबाव-तंत्र'' को समान रूप से सक्रिय बनाते हैं। आधुनिक मनुष्य के मानस में पैदा होने वाली ईर्ष्या प्रतिस्पर्धा घृणा या भय के भाव सत्ता और संपत्ति के लिए संघर्ष, लालसाएँ और वह भी ''दबावतंत्र'' को प्रवर्तित कर देते हैं।

जब तनावोत्पादक परिस्थिति का दबाव व्यक्ति के सामने उपस्थित होता है तब तुरन्त ही एक आंतरिक तंत्र स्वत: ही सक्रिय हो उठता है जो दबाव तंत्र कहलाता है। इस तंत्र में शरीर के निम्नलिखित हिस्से सक्रिय रूप से भाग लेते हैं—

(क) हाइपोथेलेमस (अवचेतक)—यह नाड़ी-तंत्र का संधि-स्थल है। यह हमारे मस्तिष्क का अत्यंत महत्त्वपूर्ण भाग है। यह उन सभी क्रियाओं का संयोजन करता है जो सामान्य रूप से चेतन मन द्वारा नियंत्रित नहीं होती है।

(ख) पिच्यूटरी ग्रंथि—यह अंत:स्रावी ग्रंथि-तंत्र की प्रधान ग्रंथि है। इससे अन्य ग्रंथियों का नियमन (रेगुलेशन) होता है।

(ग) एड्रीनल ग्रंथियाँ—ये एड्रीनालीन (एपिनेफ्रीन) एवं अन्य हार्मोनों का स्राव करती हो जिनसे व्यक्ति तनावयुक्त एवं सावधान होता है।

(घ) स्वायत नाड़ी संस्थान का अनुकंपी विभाग—यह विपत्ति की स्थिति में व्यक्ति को आक्रमण के लिए या भागने के लिए या भगाने के लिए अंतिम रूप से तैयार करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.2 दबाव का प्रभाव

उपरोक्त दबाव तंत्र के संयुक्त क्रियाकलाप से शरीर के भीतर घटित होने वाली शारीरिक स्थिति का क्रम इस प्रकार होगा—

1. पाचन क्रिया मंद या बिल्कुल स्थगित हो जाती है।

2. लार-ग्रंथियों का कार्य स्थगित हो जाता है जिससे मुख सूख जाता है।

3. चयापचय की क्रिया में तेजी आ जाती है।

4. श्वास तेजी से चलने लगती है तथा हॉफ चढ़ जाती है।

5. यकृत द्वारा संग्रहित शर्करा को अतिरिक्त रूप से रक्त-प्रवाह में छोड़ा जाता है जिसके माध्यम से उसे हाथ-पैर की मांसपेशियों को पहुंचाया जाता है।

6. शरीर के जिन भागों को अधिक रक्त की जरूरत हो वहां तक उसे पहुंचाने के लिए हृदय की धड़कन बढ़ जाती है।

7. रक्तचाप बढ़ जाता है।

8. शरीर में विद्युत एवं रासायनिक स्रावों (हार्मोनों) की ऊर्जा अत्यधिक मात्रा में पैदा होती है ताकि हम अपनी क्रियाओं को तेज कर सकें। यदि कुछ करने की आवश्यकता न हो तो यह अतिरिक्त ऊर्जा मांसपेशियों में ''तनाव'' के रूप में प्रतिबद्ध हो जाती है, ठहर जाती है।

5.3 परानुकंपी तंत्र का प्रभाव

संकट की स्थिति समाप्त होने पर तनी हुई मांसपेशियां शिथिल हो जाती हैं। सामान्य प्रवृत्तियां पुनः चालू हो जाती हैं। इस शांतिपूर्ण स्थिति को पुनः स्थापित करने का दायित्व स्वतः चालित नाड़ी तंत्र के दूसरे विभाग-परानुकंपी संस्थान पर होता है। यद्यपि अनुकंपी और परानुकंपी संस्थान का कार्य एक-दूसरे से विपरीत जैसा दिखाई देता है फिर भी ये एक-दूसरे के साथ तालमेल बिठाकर कार्य करते हैं। परानुकंपी संस्थान का कार्य है—अनुकंपी संस्थान के कार्य को संतुलित करना। तदनुसार संकट की स्थिति समाप्त होने पर परानुकंपी संस्थान का सक्रिय होना स्वाभाविक है। उसकी सक्रियता अनुकंपी संस्थान से निष्पादित उत्तेजना को समाप्त कर मांसपेशियों की रासायनिक स्थिति को पुनः सामान्य बनाकर उन्हें शिथिल करती है। **जहां अनुकंपी संस्थान आक्रमणशील और उत्तेजनावर्धक है वहां परानुकंपी संस्थान मरम्मत करने वाला और शांतिवर्धक हैं। जब दोनों संस्थानों का कार्य सामान्य स्थिति में होता है। अर्थात् दोनों में संतुलन बना रहता है तब शरीर में सक्रियता और विश्राम/शांति का आवर्तन लयबद्ध गति से ठीक उसी प्रकार चलता है जैसा झूमा-झूमी में होता है।** जब संतुलन बिगड़ता है तब तनाव की खतरनाक स्थिति पैदा हो जाती है। वर्तमान युगीन जीवनशैली व्यक्ति को निरंतर उत्तेजित और सक्रिय बनाए रखती है। ऐसे अवसर पर मरम्मत करने वाले उपकरण अर्थात् परानुकंपी संस्थान को अपना कार्य करने का मौका ही नहीं मिलता। फलतः शरीर की मांसपेशियों और स्नायु अपनी सहज शिथिल और शांत अवस्था कदाचित् ही प्राप्त कर पाते हैं।

5.4 तनाव से हानियाँ

मनुष्य सहित सभी प्राणियों में यह दबाव-तंत्र विद्यमान होता है। यह दबाव-तंत्र प्रणी को संकट की स्थिति का मुकाबला करने या उससे भागने के लिए तैयार करता है। यह तंत्र परिस्थिति उपस्थिति होने पर अनैच्छिक रूप से (स्वतः) घटित होता रहता है। जब संकट की स्थितियाँ बार-बार आती हैं तब यह ''दबाव-तंत्र'' बार-बार सक्रिय होता है। यदि ऊपर वर्णित शारीरिक स्थितियाँ लम्बे समय तक बनी रहें या बार-बार उनका पुनरावर्तन होता रहे तो गंभीर गड़बड़ी पैदा हो सकती है। यदि इस प्रकार रक्तचाप लगातार ऊंचा बना रहे और रक्तवाहिनियों की संकुचित स्थिति लगातार बनी रहे तो उसका परिणाम हो सकता है—दिल का दौरा, रक्ताघात (हेमरेज—मस्तिष्क की रक्तवाहिनी का फट जाना)। यदि आमाशय आदि पाचन अवयवों को मिलने वाली रक्त की मात्रा लम्बे समय तक क्षीण रहे तो पाचन क्रिया में गड़बड़ी हो सकती है। यदि श्वास की गति लम्बे समय तक लगातार तेज बनी रहे तो उसका परिणाम दमा आदि श्वास की बीमारियों के रूप में हो सकता है। मांसपेशियों के लम्बे समय तक लगातार तनाव से सिर, पीठ, गर्दन और कंधों में दर्द और पीड़ा पैदा हो सकती है। इन गड़बड़ियों के अलावा निरंतर तनाव से मानसिक आतंक की भावना पैदा हो सकती है जो निरंतर अकारण भय के रूप में पीछा कर सकती है। यह न केवल भयावह स्थिति होगी अपितु मनुष्य को बिल्कुल निर्वीर्य और हताश बनाने वाली सिद्ध हो सकती है। इसका कारण है कि लगातार दबाव की स्थिति रहने पर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ग्रंथि तंत्र पहले गड़बड़ा जाता है और बाद में समूचा कार्य करना ही बंद कर देता है। एड्रीनलीन का स्राव बंद हो जाए तो हृदय की गति मंद हो जायेगी, रक्तवाहिनियां शिथिल हो जायेगी तथा मस्तिष्क को पहुंचने वाला रक्त बंद हो जाएगा जिससे बेहोशी आ सकती है।

इन समस्याओं के अतिरिक्त निरंतर कसे हुए जबड़े, तनी हुई भृकुटियां और आमाशय की मांसपेशियों का कड़ापन—ये अति तनाव की स्थिति के कुछ प्रत्यक्ष चिह्न हैं। इस स्थिति में हमारे शरीरस्थ विद्युत-चुम्बकों का तीव्र विद्युत-प्रवाह के कारण अति चुम्बकीकरण (Over magnetization) हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप हमारी मांसपेशियों के दल एक स्थायी संकुचन की स्थिति में बने रहते हैं जो कि बहुत बार अनावश्यक होता है। इसके कारण हमारी स्नायविक और मांसपेशीय ऊर्जा का एक बहुत बड़ा हिस्सा व्यर्थ चला जाता है क्योंकि इस स्थिति में विद्युत का निरंतर व्यय होता है। ऊर्जा का व्यय कितनी मात्रा में होगा, इस बात का आधार क्रियावाही मांसपेशियों की संख्या पर है न कि उनकी लंबाई-चौड़ाई पर या उनकी शक्ति पर। जैसे—चेहरे की एक छोटी-सी मांसपेशी को संकुचित करने में उतनी ही स्नायविक ऊर्जा का व्यय होता है जितनी कि पैर की एक बड़ी मांसपेशी को सक्रिय करने में होती है। इस प्रकार ऊर्जा का होने वाला समग्र व्यय क्रियावाही तंतुओं की संख्या और विद्युत-वाहकों के भीतर चलने वाले विद्युत-प्रवाह के सामर्थ्य—इन दोनों पर निर्भर है। दूसरी विशेष बात यह है कि जहां हमारे अन्य ऊतकों में प्रतिदिन लाखों और करोड़ों की संख्या में निकम्मी और मृत कोशिकाओं का स्थान नई और स्वस्थ कोशिकाएँ ले लेती हैं। वहां स्नायविक कोशिकाओं को उनके पुरानी या मृत होने पर भी बदला नहीं जा सकता। **ज्यों-ज्यों व्यक्ति की आयु बढ़ती है, स्नायविक कोशिकाओं की संख्या निरंतर घटती जाती है। यदि किसी भी कारण से हम उन्हें आहत कर देते हैं** (उदाहरणार्थ—मानसिक दबाव के रूप में उनसे अधिक काम लेने पर ऐसा घटित होता है) **तब हम सदा-सदा के लिए उन्हें आहत कर देते हैं जो अपने पीछे अपूरणीय क्षति छोड़ जाती है।**

इस प्रकार अनेक रोगों को पैदा करने में तनाव का बहुत बड़ा हाथ साबित हो रहा है। यदि हम तनाव के दुष्परिणामों से बचना चाहते हैं तो हमें ऐसा उपाय ढूंढना होगा जिससे परानुकंपी संस्थान अपना कर्त्तव्य क्षमतापूर्वक निभा सके, बिगड़े संतुलन को बना सके, सामंजस्य को पुनः स्थापित कर सके।

5.5 तनाव के कारण

ऊपर की चर्चा से ऐसा निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं होगा कि तनाव एकांततः हानिकारक ही है। कुछ होने के लिए या उपलब्धि के लिए कुछ मात्रा में तनाव आवश्यक भी है किंतु तनाव से जो हानि होती है, कार्य में बाधा आती है, थकावट पैदा होती है, बीमारियां आती हैं उसके मुख्य दो कारण हैं। एक कारण है तनाव की निरंतरता। दूसरा कारण है उसकी अत्यधिक मात्रा इसके होने का एक प्रमुख कारण है—व्यक्ति के जीवन में अचानक घटित होने वाले परिवर्तन। डॉ. होम्स और डॉ. आर. रहो ने जीवनशैली में होने वाले परिवर्तनों को अंक लगाकर मापने का प्रयास किया है। उनका अंकीकरण किया है। जैसे—दंपति में से एक की मृत्यु। उनके द्वारा बनाई गई सूची में दिये गए कुछेक परिवर्तन एवं उनके अंक इस प्रकार हैं—

क्र.सं.	घटना	अंक
1.	दंपत्ति में से किसी एक की मृत्यु	100
2.	तलाक	73
3.	चोट या बीमारी	53
4.	विवाह	50
5.	कार्य से निष्कासन	46
6.	सेवानिवृत्ति	45
7.	लैंगिक समस्याएँ	39
8.	कार्य (व्यवसाय) में परिवर्तन	29
9.	जीवन की स्थितियों में परिवर्तन	25
10.	सोने या आहार संबंधी आदतों में परिवर्तन	16

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यह सूची अपने आप में पूर्ण नहीं है। और भी अनेक घटनाएँ हैं। इनमें दी गई घटनाएँ और उनके अंक भी सभी पर समान रूप से लागू नहीं होते हैं। फिर भी यदि किसी व्यक्ति पर एक साथ अनेक घटनाओं का दबाव पड़े एवं कुल मिलाकर उनका प्रभाव अंक 300 तक चला जाए तो भयंकर बीमारी की संभावना हो जाती है। यदि उसके अंक 100 के ऊपर भी चले जाएँ तब भी उसके सुरक्षा के उपायों को काम में लेना जरूरी हो जाता है। यह स्पष्ट है कि एक समय में एक ही परिवर्तन या घटना को झेलना सरल होता है किंतु जीवन इतना सरल नहीं है कि एक समय में एक ही घटना का सामना करना पड़े। व्यक्ति को अनेक परिवर्तनों का युगपत् (एक साथ) सामना करना पड़ता है, वैसी स्थिति में तनाव की अत्यधिकता से बचने के लिए कायोत्सर्ग आदि उपचारात्मक या सुरक्षात्मक उपायों का सेवन जरूरी हो जाता है।

5.6 तनाव मुक्ति के उपाय

तनाव जैसी समस्या को दूर करने के लिए अनेक उपाय खोजे हैं जिनमें प्रमुख हैं—

5.6.1 प्रशामक दवाएँ

अनेक बार परिस्थितियां नियंत्रण के बाहर होती है। परिस्थितियां अथवा घटनाएं होती चली जाती हैं। व्यक्ति उसके दबाव से ग्रसित होता चला जाता है। वह तनाव से टूटने लगता है। नींद कोसों दूर हो जाती है। क्या ऐसी स्थिति से बचने का भी कोई उपाय है? इस समस्या का समाधान अनेक दिशाओं में खोजा गया। आधुनिक औषध विज्ञान ने इसका समाधान प्रशामक गोलियों में खोजने का प्रयत्न किया है। इनके द्वारा प्रदत्त प्रशामक गोलियां (ट्रेंक्वीलाइजर्स) केवल अस्थायी आराम का आभास कराती हैं किन्तु लम्बे काल में गोलियां स्वयं बीमारी से भी अधिक खतरनाक बन जाती हैं। प्रशामक औषधियां तत्कालीन लाभ अथवा क्षणिक लाभ के लिए तो उपयोगी हो सकती हैं लेकिन समस्या का समाधान जड़ से नहीं कर सकती हैं। अत: समस्या के पूर्ण समाधान प्रशामक दवाएं स्थाई उपाचार नहीं हैं।

5.6.2 ट्रोपोट्रोपिक प्रतिक्रिया (तनाव मुक्ति प्रतिक्रिया)

डॉ. वाल्टर के अनुसार ''सौभाग्य से हमारे भीतर एक ऐसी सुरक्षात्मक प्रणाली भी है जिसे सक्रिय बनाने पर तनाव मुक्त स्थिति का निर्माण किया जा सकता है। ''लड़ो या भागो'' वाली प्रतिक्रिया का निर्माण मुख्यत: अनुकंपी नाड़ी तंत्र के द्वारा किया जाता है किन्तु सुरक्षात्मक प्रणाली के द्वारा इससे नितांत उल्टी स्थिति का सृजन संभव है। नोबल पुरस्कार विजेता स्विट्जरलैण्ड के सुप्रसिद्ध शरीर वैज्ञानिक डॉ. वालटर ने इस प्रणाली को ''ट्रोपोट्रोफिक प्रतिक्रिया'' की प्रणाली कहा है। उन्होंने बताया कि इस प्रणाली द्वारा अधिक दबाव द्वारा उत्पादित प्रतिक्रियात्मक प्रक्रिया की प्रतिरोधी क्रिया की जा सकती है। डॉ. हर्बर्ट बेन्शन, एम.डी. ने इसे ''तनाव-मुक्ति-प्रक्रिया'' कहा है।

5.6.3 स्वयं-सूचन

स्वयं सूचन या स्व-सम्मोहन को हम एक विशेष प्रकार की सुझाव-चिकित्सा कह सकते हैं जिसमें व्यक्ति स्वयं अपने सुझावों के द्वारा अपनी चिकित्सा करता है। कुछ शोधकर्त्ताओं ने सिद्ध कर दिया है कि सभी प्रकार की 'सुझाव-चिकित्सा' वास्तव में मूलत: स्वयं-सूचन (या स्व-सम्मोहन) पर ही आधारित है। इसमें व्यक्ति अपनी क्षमता का विकास कर अपने आप गहरी शिथिलावस्था जैसी स्थिति में जा सकता है और उसके माध्यम से वह अपनी थकान, तनाव और सिरदर्द आदि को कम कर सकता है। स्वयं-सूचना के प्रयोगों को आम जनता तक पहुंचाने का कार्य बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में एमिल कोवे (Emile Coue) नामक फ्रेंच डॉक्टर ने किया। उनके द्वारा प्रदत्त नारे—''दिन दूना और रात चौगुना, बनता मेरा स्वास्थ्य सौ गुना'' ने ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त कर लिया।

शिथिलीकरण के प्रयोग के दौरान जो परिवर्तन शरीर में घटित होते हैं, उन्हें मापा जा सकता है। हाल ही में किये गए अध्ययनों से यह पता चला है कि इन प्रयोगों के परिणाम-स्वरूप निम्नलिखित शारीरिक घटकों में हितकर परिवर्तन होते हैं—

1. रक्त का शर्करा-स्तर,
2. रक्त में श्वेत कणों की संख्या (जो रोग प्रतिरोधात्मक शक्ति के उत्पादक हैं)
3. विद्युत मस्तिष्कीय लेखांकन (ई.ई.जी.)।

स्वयं-सूचन के प्रयोग की सफलता का आधार है—शरीर की शिथिल या तनावमुक्त और स्थिर-अवस्था। जितनी अधिक शिथिलता और स्थिरता, उतनी अधिक सफलता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कायोत्सर्ग के प्रयोग का आधार है—स्वयं सूचन। इस प्रयोग में शरीर के प्रत्येक अवयव को स्नेहमय स्वत: सुझावों द्वारा क्रमश: शिथिल और तनाव मुक्त बनाया जाता है। हम अपने आप को इस प्रक्रिया का प्रशिक्षण दे सकते हैं और स्वयं-सूचन (auto-suggestion) की तकनीक द्वारा अपनी आंतरिक सुरक्षात्मक प्रणाली को सक्रिय कर सकते हैं तथा तनाव द्वारा निष्पन्न स्थिति को दूर करने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। एड्रीनल के अतिरिक्त स्रावों के उत्पादन में कमी कर सकते हैं और अनुकंपी संस्थान के दुष्प्रभाव को परानुकंपी की सक्रियता द्वारा समाप्त कर सकते हैं। अंतत: मांसपेशियां शिथिल और तनावमुक्त बनेंगी और उदरीय कड़ापन समाप्त हो जाएगा। शिथिलीकरण (कायोत्सर्ग) का नियमित अभ्यास वर्तमान युगीन अनेक कष्टदायक बीमारियों से बचने के लिए रामबाण उपाय है।

5.6.4 कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग तनाव मुक्ति के लिए बहुत उपयोगी साधन है। तनाव-मुक्ति की यह साधना तनाव को समाप्त करने का एकदम सीधा और निर्दोष तरीका है। **तनाव-मुक्ति के बिना व्यक्ति न तो शांति प्राप्त कर सकता है, न स्वास्थ्य और न सुख। फिर चाहे व्यक्ति के पास सुखी होने के लिए कितने ही साधन क्यों न हो?** यदि कोई भी व्यक्ति इस साधना को सीख लेता है और प्रतिदिन आधा या पौना घंटा नियमित उसका अभ्यास करता है तो किसी भी परिस्थिति में न केवल तनावमुक्त और अनुद्विग्न रह सकता है अपितु अपनी कार्यक्षमता और गुणवत्ता को बढ़ा सकता है। कायोत्सर्ग की साधना का सही मूल्यांकन करने के लिए हमें मांसपेशियों की कार्य-पद्धति की जानकारी होनी चाहिए। संबंधित स्नायु द्वारा उत्तेजना मिलते ही हमारी मांसपेशियां विद्युत् वेग से संकुचित होती है। हमारी कंकाली मांसपेशियों को हम विद्युत-चुम्बक (electro magnet) के साथ उपमित कर सकते हैं और जो स्नायु (या नाड़ी) उसे उत्तेजित करता है, वह उस विद्युत के तार के समान है जो उसको मस्तिष्क से जोड़ता है।

नींद के दौरान स्नायुओं में सामान्य रूप से विद्युत प्रवाह मंद हो जाता है। केवल कुछ सुरक्षा और जीवन टिकाने वाली क्रियाओं में प्रवृत्त मांसपेशियों को छोड़ शेष सारी मांसपेशियां नींद में शिथिल हो जाती हैं। जब कोई व्यक्ति विश्राम की मुद्रा में होता है तब भी स्नायुओं में प्रवाहित होने वाला विद्युत्-प्रवाह बहुत मंद-सा होता है। इससे मांसपेशियों का चुंबकीकरण भी मंद होता है और इसलिए वे शांत-शिथिल पड़ी रहती हैं। जब-जब व्यक्ति किसी भी शारीरिक (मानसिक या वाचिक) क्रिया में प्रवृत्त होता है तब-तब मस्तिष्क के आदेशानुसार नाड़ियों में विद्युत-प्रवाह को तीव्र कर दिया जाता है जो विद्युत-चुम्बकों (मांसपेशियों) को सक्रिय बना देता है, जिससे मांसपेशियां संकुचित की जा सकती हैं। कितने सूक्ष्म क्रियात्मक स्नायुओं (मोटर-नर्व्ज) को गति देना है, इसका आधार किए जाने वाले प्रयत्न की तीव्रता पर है।

संकल्पपूर्वक यदि सम्पूर्ण शिथिलीकरण को जागरूकता के साथ-साथ किया जाता है जिसे कायोत्सर्ग कहा जाता है तो हम थकान अथवा क्षति से बच सकते हैं। कायोत्सर्ग के द्वारा मांसपेशी रूप विद्युत-चुम्बकों को विद्युत पहुंचाने वाले तारों (स्नायुओं) का संबंध नींद की अपेक्षा और अधिक क्षमतापूर्वक स्थगित किया जा सकता है। इसके विद्युत के प्रवाह को करीब-करीब शून्य तक पहुंचाकर ऊर्जा के व्यय को न्यूनतम बनाया जा सकता है। अनेक घंटों की अव्यवस्थित निद्रा की अपेक्षा आधा घंटा के सधा हुए कायोत्सर्ग से व्यक्ति के तनाव और थकान को अधिक भली-भांति दूर किया जा सकता है। कायोत्सर्ग की साधना हमारी सचेतन इच्छा-शक्ति के शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव को व्यक्त करने वाली एक साधना है। हमारी यह इच्छा शक्ति किसी आततायी तानाशाह की तरह हाथ में चाबुक लेकर अपनी शक्ति के बल पर दूसरों को चलाने वाली नहीं अपितु उस स्नेहमयी माता की तरह है जो ममता और धैर्य के द्वारा अपने जिद्दी बच्चे को ठीक करती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कायोत्सर्ग कभी भी बल-प्रयोग, तनातनी या हिंसक भावों से नहीं अपितु केवल विनम्र निवेदन-मूलक स्वत: सुझावों से ही सधता है।

बोध-प्रश्न

1. ध्यान का क्या अर्थ है?
2. कायोत्सर्ग के मुख्य प्रयोजन कौन-से हैं?
3. मानसिक शांति का सबसे बड़ा उपाय क्या है?
4. दबाव क्या है?
5. तनाव-मुक्ति के लिए उपयोगी साधन क्या हैं?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.0 कायोत्सर्ग की निष्पत्तियाँ

अब हम शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक आदि दृष्टियों से होने वाली निष्पत्तियों (परिणामों) की चर्चा करेंगे जिनमें तनाव मुक्ति, चित्त की एकाग्रता, ज्ञाता-द्रष्टा-भाव का विकास, चैतन्य का साक्षात्कार, प्रज्ञा का जागरण आदि उल्लेखनीय हैं।

चार अवस्थाएँ — कायोत्सर्ग की प्रथम अवस्था में स्थिरता प्राप्त होती है। शारीरिक स्तर पर तनाव-मुक्ति का अनुभव होने लगता है तथा कुछ मन:कायिक रोगों में प्रत्यक्ष सुधार का अनुभव भी होने लगता है।

कायोत्सर्ग की दूसरी अवस्था में कुछ विशिष्ट परिवर्तन घटित होते हैं —

1. स्नायु-तंत्र प्रभावित होता है।
2. मस्तिष्क की तरंगों और मस्तिष्कीय विद्युत में परिवर्तन आ जाता है।
3. ऑक्सीजन की खपत कम हो जाती है।
4. अनैच्छिक मांसपेशियों पर नियंत्रण स्थापित होने लगता है और स्वायत्त स्नायुतंत्र का उत्तेजना-स्तर गिर जाता है। उनमें स्थिरता आती है।
5. शारीरिक कार्यक्षमता बढ़ जाती है।
6. श्लेष्म आदि दोषों के क्षीण होने से देह की जड़ता नष्ट होती है।
7. जागरूकता के कारण बुद्धि की जड़ता नष्ट होती है।
8. सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहने की क्षमता बढ़ती है।
9. चित्त की एकाग्रता सुलभ हो जाती है।

इसकी तीसरी अवस्था में स्थूल शरीर का बोध क्षीण हो जाता है। सूक्ष्म शरीर की सक्रियता बढ़ जाती है और वह कभी-कभी स्थूल शरीर को छोड़कर बाहर चला जाता है। इस स्थिति में सूक्ष्म पदार्थ दृष्टिगत होने लग जाते हैं।

इसकी चतुर्थ अवस्था में आत्मा के चैतन्यमय स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है।

6.1 तनाव-मुक्ति

कायोत्सर्ग की पहली और प्रत्यक्ष निष्पत्ति है — तनाव-मुक्ति। जो भी साधक यह साधना करेगा, उसमें तनाव धीरे-धीरे विसर्जित हो जाएँगे। कोई कायोत्सर्ग करे और तनाव न मिटे, यह कभी हो नहीं सकता। कायोत्सर्ग तनाव-मुक्ति का अचूक उपाय है। जिन्होंने कायोत्सर्ग का अभ्यास किया है, शरीर में शिथिलीकरण का प्रयत्न किया है, ममत्व के विसर्जन का अभ्यास किया है तो उन्होंने यह अनुभव किया है कि शरीर सर्वथा तनाव-मुक्त हो गया है। कायोत्सर्ग करने वाला मन के बोझ से ऊपर उठ जाता है। यह कायोत्सर्ग का प्रत्यक्ष लाभ है।

6.2 चंचलता की निवृत्ति

शिथिलीकरण का अर्थ है — चंचलता की निवृत्ति। शरीर पूरा स्थिर हो जाए, कोई भी अंग न हिले, शरीर की सारी प्रवृत्तियों का विसर्जन करना ही शिथिलीकरण है। कायोत्सर्ग में पहले हम इच्छाचालित नाड़ी-संस्थान को स्थिर करते हैं, जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता है, स्थिरता फलित होती जाती है। जब इच्छा चालित नाड़ी संस्थान पर नियंत्रण स्थापित हो जाता है, तब स्वत: चालित नाड़ी-संस्थान भी अपने आप स्थिर होने लग जाता है, हृदय की धड़कन भी कम होने लग जाती है, श्वास मंद हो जाता है, उसकी संख्या घट जाती है, प्राणवायु या ऑक्सीजन की खपत कम हो जाती है, सारी अपेक्षाएँ कम हो जाती हैं और अकल्पित शांति का वातावरण भीतर में निर्मित हो जाता है।

6.3 शरीर पर प्रभाव

शरीर पर कायोत्सर्ग के प्रभाव की चर्चा करें तो कहा जा सकता है कि कायोत्सर्ग के द्वारा लगभग सभी नाड़ी-तंत्रीय कोशिकाएँ प्राण-शक्ति से अनुप्राणित हो जाती हैं। इस प्रकार से उन्हें ऐसा अवकाश प्राप्त होता है जिसके दौरान वे निरंतर उन पर पड़ने वाले बोझ से मुक्त रहती हैं — रात-दिन मस्तिष्क तक संवेदनों को पहुंचाने तथा प्रवृत्ति-बहुल गतिविधियों को चलाने से थका देने वाले

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कार्य से विश्रान्ति का अनुभव कर सकती है। इसलिए यह आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि दीर्घकालीन अशांत निंद्रा की अपेक्षा स्वल्पकालीन कायोत्सर्ग व्यक्ति को अधिक स्फूर्ति और शक्ति प्रदान करता है।

ऊपर जो बताया गया है उससे तो स्पष्ट हो चुका होगा कि कायोत्सर्ग का प्रयोग करते समय नींद लेना प्रयोग के लक्ष्य के विपरीत है पर नींद में जाने से पूर्व कायोत्सर्ग का प्रयोग करने का परिणाम होगा—स्वास्थ्य और शांतिपूर्ण नींद। जिन व्यक्तियों को उच्च रक्तचाप आदि के कारण हृदय-रोग होने की संभावना रहती है वे कायोत्सर्ग को नियमित अभ्यास से अपनी प्रतिकार शक्ति को बढ़ाकर इस खतरे से बच सकते हैं। एक इलेक्ट्रोनिक-सामग्री-निर्माण करने वाले कारखाने में 100 श्रमिकों पर एक प्रयोग किया गया। इन श्रमिकों को उच्च रक्तचाप, रक्त में कोलेस्ट्रोल की अत्यधिक मात्रा तथा धूम्रपान आदि व्यसन के कारण हृदय रोग का खतरा हो गया था। उन्हें आठ सप्ताह तक प्रति सप्ताह एक घंटे तक शिथिलीकरण का अभ्यास करवाया गया। उनके रक्तचाप में उल्लेखनीय कमी पाई गई। इसी कारखाने के अन्य श्रमिकों का दल जिसे उपर्युक्त अभ्यास से वंचित रखा गया था (जिसे 'कण्ट्रोल ग्रुप' कहा जाता है), सदस्यों की तुलना में प्रयोग के अंतर्गत अभ्यास करने वाले दल के सदस्यों में तीन वर्ष पश्चात् भी रक्तचाप नीचा रहा तथा उनमें हृदय-रोग की घटनाएँ भी कम हुईं।

6.4 सूक्ष्म शरीर की घटनाओं का ज्ञान

अध्यात्म की साधना करने वाले व्यक्ति को अध्यात्म के नियमों से परिचित होना जरूरी हैं सबसे पहला और सबसे बड़ा नियम है—शरीर की स्थिरता—कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग होता है, श्वास-दर्शन होता है। कायोत्सर्ग होता है, शरीर-प्रेक्षा अपने आप हो जाती है। शरीर में होने वाले कम्पन अपने आप प्रकट होने लगते हैं। कायोत्सर्ग होता है, विचार-दर्शन होता है। शरीर में हर अवयव की स्थिरता जब सधती है तब प्रत्येक कोशिका की स्थिरता का अभ्यास हो जाता है तो फिर किस कोशिका में कहां क्या हो रहा है- इस घटना का पता लगने लग जाता है। नाड़ी-संस्थान में ग्रंथि-संस्थान में जो कुछ हो रहा है, विद्युत-प्रवाह की जो गति हो रही है, रसायन किस प्रकार अपने विविध परिणमन कर रहे हैं और किस प्रकार के रसायन बन रहे हैं- उन सब घटनाओं का कायोत्सर्ग में पता लग जाता है। कायोत्सर्ग जैसे-जैसे विकसित होता है, जैसे-जैसे शरीर की स्थिरता सधती है, वैसे-वैसे जागरूकता बढ़ती जाती है। चेतना निर्मल हो जाती है और इस स्थूल शरीर का अतिक्रमण कर सूक्ष्म शरीर की घटनाओं का भी पता लगने लग जाता है।

6.5 आभामण्डल का दर्शन

कायोत्सर्ग की प्रगाढ़ अवस्था में आभामंडल का दर्शन भी होने लगता है। जब कायोत्सर्ग सघन होता है तब परमाणुओं का भीतर आना बंद हो जाता है। उस स्थिति में स्थूल शरीर को पार करने के पश्चात् अतिसूक्ष्म शरीर के स्पंदन दिखने लग जाते हैं। उसका साक्षात्कार होते ही हमारी सारी दृष्टि बदल जाती है।

6.6 ज्ञाता-द्रष्टा भाव का जागरण

जब कायोत्सर्ग घटित होगा, तब शरीर की सारी चंचलता समाप्त हो जाएगी। इतना ही नहीं अपितु साधक 'सुसमाहितात्मा' बन जाएगा। आत्मा का वह स्वरूप प्रकट होगा जो पहले कभी नहीं हुआ था। इस स्वरूप को आज तक या तो प्रतिकार करते रहे थे या केवल मानते रहे थे किन्तु अब जानने लग जाएँगे। जानने की बात तब आती है जब कायोत्सर्ग की स्थिति प्राप्त होती है। कायोत्सर्ग आत्मा तक पहुंचने का द्वार है। इसकी निष्पत्ति है—अध्यात्म की उपलब्धि, अपने अस्तित्व की उपलब्धि, ज्ञाता-द्रष्टा भाव की उपलब्धि।

6.7 विवेक चेतना का जागरण

जब कायोत्सर्ग सधता है तब विवेक-चेतना जाग जाती है, चेतना और शरीर की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। जैसे यह शरीर है और यह आत्मा। यह अचेतन है और यह चेतन। यह अशाश्वत और यह शाश्वत। आत्मा और पुद्गल का स्पष्ट भेद उसे साक्षात् हो जाता है। यह विवेक-चेतना बहुत बड़ी उपलब्धि है। वास्तव में शरीर का मूल्यांकन वही व्यक्ति कर सकता है जिसने कायोत्सर्ग का अभ्यास किया है। वास्तव में शरीर का सार वही निकाल सकता है जिसने कायोत्सर्ग को साधा है।

कायोत्सर्ग की अनुभूति के पीछे शरीर-विज्ञान की दृष्टि से कौन-सी क्रिया कार्य करती है? जैसे हम पहले बता चुके हैं कि जिस समय मांसपेशियों को शिथिल किया जा रहा था उस समय उनसे सम्बद्ध क्रियावाही नाड़ियों में धीरे-धीरे विद्युत का प्रवाह मंद

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होता जा रहा था तथा इस प्रकार उन्हें विश्राम का अवसर दिया जा रहा था। अंततोगत्वा सम्पूर्ण क्रियावाही प्रणाली को निष्क्रिय बनाकर उसे विश्राम की अवस्था में स्थापित किया गया और फिर उसी का अनुकरण उसकी ही पूरक प्रणाली—संवेदी (ज्ञानवाही) प्रणाली द्वारा किया गया है जो मस्तिष्क (यानि केन्द्रीय नाड़ी-संस्थान) तक संवेदनों को पहुंचाने का कार्य करती है। इस प्रकार सारी प्रक्रिया के दौरान जहां एक ओर चेतन मन पूर्णत: जागृत और सजग था, वहां दूसरी ओर शरीर—हमारा भौतिक हिस्सा—धीरे- धीरे चेतना रहित-सा होता जा रहा था। इससे चैतन्य को उसके प्रतिपक्षी भौतिक हिस्से से मुक्त अनुभव करने का अवसर मिला। इस प्रकार के कायोत्सर्ग में स्वयं के शरीर से बाहर अपने आप को तैरते हुए अनुभव किया जा सकता है जो निश्चित रूप से न तो स्वत: सूचना का रूप है और न ही सम्मोहन है अपितु एक वास्तविक तथ्य की सही-सही अनुभूति है।

6.6 व्युत्सर्ग-चेतना का जागरण

विवेक-चेतना पुष्ट होती है तब व्युत्सर्ग (त्याग की क्षमता) का विकास होता है। फिर छोड़ने में संकोच नहीं होता। चाहे शरीर को छोड़ना पड़े, इन्द्रिय-विषयों को छोड़ना पड़े, परिवार या धन को छोड़ना पड़े। उमसें छोड़ने की इतनी क्षमता बढ़ जाती है कि जब चाहे तब किसी को भी छोड़ सकता है, कोई मोह नहीं रहता। व्युत्सर्ग की चेतना जगाने पर साधक को स्पष्ट अनुभव हो जाता है कि मैं चैतन्यमय हूँ, यही मेरा अस्तित्व है। चैतन्य के अतिरिक्त जितना भी जुड़ाव हुआ है, वह विजातीय है, मेरा नहीं।

6.7 प्रज्ञा का जागरण : समता का विकास

कायोत्सर्ग की एक और महत्त्वपूर्ण निष्पत्ति है—प्रज्ञा का जागरण। जब कायोत्सर्ग के द्वारा प्रज्ञा जागती है तब जीवन में समता स्वत: अवतरित होती है। लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख, निंदा-प्रशंसा, जीवन-मरण—इन द्वंद्वों में सम रहने की क्षमता उसी व्यक्ति में विकसित होती है जो कायोत्सर्ग को साध लेता है। फिर उसके लिए प्रिय और अप्रिय में कोई भेद नहीं होता। दोनों आयाम समाप्त हो जाते हैं। तीसरा आयाम उद्घाटित होता है। वह आयाम है—समता।

बुद्धि और प्रज्ञा में इतना ही अंतर होता है कि बुद्धि चुनाव करती है—यह प्रिय है, यह अप्रिय है। प्रज्ञा में चुनाव समाप्त हो जाता है। उसके सामने प्रियता और अप्रियता का प्रश्न ही नहीं उठता। उसके समक्ष समता ही प्रतिष्ठित होती है। कायोत्सर्ग के अभ्यास से बुद्धि का पलड़ा हलका होता जाएगा और प्रज्ञा का पलड़ा भारी होता चला जाएगा। जीवन में जिस दिन प्रज्ञा की किरण फूटेगी, उस दिन अपने आप समता का दर्शन होगा।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कायोत्सर्ग का प्रयोग तनाव मुक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। इस प्रयोग के द्वारा शारीरिक, मानसिक तथा भावनात्मक स्तर की अनेक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

बोध प्रश्न

1. वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

1. कायोत्सर्ग क्या है?
2. कायोत्सर्ग के मुख्य प्रयोजन कितने हैं?
3. तनाव विसर्जन की प्रक्रिया क्या है?
4. परानुकंपी किस संस्थान के कार्य को संतुलित करता है?
5. सुझाव चिकित्सा किस पर आधारित है?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न—

1. कायोसर्ग के प्रयोजन को स्पष्ट कीजिए।
2. कायोत्सर्ग की निष्पत्तियां लिखिए।

3. निबंधात्मक प्रश्न—

1. कायोत्सर्ग का वैज्ञानिक आधार स्पष्ट कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
2.0 भूमिका
3.0 प्रयोजन
4.0 अंतर्यात्रा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण
5.0 अतंर्यात्रा का आध्यात्मिक दृष्टिकोण
6.0 अंतर्यात्रा की निष्पत्ति

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ के द्वारा निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है—

1. अन्तर्यात्रा के प्रयोजन को समझा जा सकेगा।
2. अन्तर्यात्रा के वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण को समझा जा सकेगा।
3. अन्तर्यात्रा की निष्पत्तियों को समझा जा सकेगा।

2.0 भूमिका

व्यक्ति साधना के क्षेत्र में उतरता है क्योंकि इस नश्वर जीवन की यथार्थता को जानकर वह प्रतिपल शांति की खोज में, टोह में घूमता रहता है। जब कहीं भी शांति का मार्ग या माध्यम नहीं मिलता है तो व्यक्ति का रुझान होता है आत्म–तत्त्व की ओर जिसे जानने के लिए उसे धर्म का, अध्यात्म का आश्रय लेना पड़ता है। जब हम किसी घर में प्रवेश करते हैं तो दरवाजे को पार करना होता है, दरवाजा उस घर का प्रवेश द्वार है। वैसे ही अध्यात्म रूपी घर में प्रवेश करने का द्वार है—अंतर्यात्रा। अंतर्यात्रा से व्यक्ति आत्मा की निकटता का अनुभव करता है। यों तो अध्यात्म के सभी प्रयोग अंतर्यात्रा के ही प्रयोग हैं लेकिन प्रेक्षाध्यान में अंतर्यात्रा एक विशेष प्रयोग का नाम है। इस प्रयोग में चित्त की यात्रा सुषुम्ना पथ में की जाती है। यह पूरा पथ शक्ति केन्द्र से ज्ञान केन्द्र तक का पथ है। योगशास्त्र के दृष्टि से यह पथ अनेक चक्रों का स्थान है तो शरीर विज्ञान की दृष्टि से अनेक ग्रंथियों का। अत: इस पथ की महत्ता स्वत: स्पष्ट होती है। इस पथ पर ध्यान केन्द्रित करने से अनेक प्रकार के अनुभवों को साधक प्राप्त कर सकता है। इसके लिए आवश्यकता है गहन साधना तथा सावधानियों की क्योंकि बिना गहन साधना के अनुभव की सच्चाई तक नहीं उतरा जा सकता है और बिना सावधानी के अनेक समस्याओं की संभावना बनी रहती है। अत: अंतर्यात्रा का प्रयोग सावधानी के साथ किया जाए तो व्यक्ति अपने जीवन में अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन कर सकता है।

3.0 प्रयोजन

अंतर्यात्रा के प्रयोजन को निम्न बिन्दुओं के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

3.1 शक्ति का ऊर्ध्वारोहण

शक्ति का ऊर्ध्वारोहण अतंर्यात्रा का प्रमुख प्रयोजन है। ऐसा माना जाता है कि शक्ति का भंडार शक्ति केन्द्र के पास होता है। यह शक्ति सुप्त अवस्था में रहती है। अत: इस शक्ति का कोई उपयोग नहीं होता है। उसी शक्ति का उपयोग होता है जो ज्ञानकेन्द्र में पास होती है। ज्ञान केन्द्र पर शक्ति का भंडार हो, इसके लिए प्रयोग आवश्यक है। वह प्रयोग है अंतर्यात्रा। अंतर्यात्रा के द्वारा शक्ति केन्द्र से ज्ञान केन्द्र तक की यात्रा करने से शक्ति का ऊर्ध्वारोहण होने लगता है। शक्ति के इस ऊर्ध्वारोहण से चित्त विशुद्धि, विशिष्ट ज्ञान और क्षमताओं का जागरण होता है।

3.2 शक्ति का संतुलन

योगशास्त्र में प्राण की प्रमुख तीन धाराएं मानती जाती हैं। वे धाराएं हैं–इड़ा, पिंगला और शुषुम्ना। जब इड़ा की धारा अधिक सक्रिय होती है तो व्यक्ति के व्यवहार में निष्क्रियता, दब्बूपन एवं उदासीनता आदि लक्षण दिखने लगते हैं। इसके विपरीत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पिंगला के अति सक्रिय होने से व्यक्ति के व्यवहार में आक्रामकता, उत्तेजना व उद्‌डता आदि जैसे लक्षण दिखने लगते हैं। संतुलन के आवश्यक है इन दोनों नाड़ियों का संतुलन। अंतर्यात्रा के द्वारा इन दोनों नाड़ियों में संतुलन स्थापित कर व्यवहार को संतुलित बनाया जा सकता है। व्यवहार संतुलित होने पर स्वत: ही शक्ति का संतुलन भी होने लगेगा।

3.3 अंतर्मुखता का विकास

अंतर्मुखता का अर्थ है अपने भीतर की ओर उन्मुख होना। अंतर्मुखता तब होती है जब शक्ति ज्ञानकेन्द्र पर हो। इसके विपरीत जब शक्ति शक्ति केन्द्र यानि कि नीचे के केन्द्र में रहती है तब व्यक्ति बहिर्मुख होने लगता है। अर्थात् वह बाह्य जगत् की ओर भटकने लगता है। बाह्य जगत् में अनेक आकर्षण उसके सम्मुख होते हैं, जिसमें वह इंद्रिय सुख को खोजता रहता है। इस खोज में इंद्रियातीत चेतना अथवा शक्तियों से व्यक्ति अपरिचित तथा अनभिज्ञ बना रहता है। अत: अंतर्यात्रा का प्रयोग अतंर्मुखी बनाता है जिससे व्यक्ति अपनी शक्तियों से परिचित होने लगता है। शक्ति का खजाना भीतर में है बाहर नहीं। इस खजाने को प्राप्त कर व्यक्ति बाह्य जगत् अथवा भौतिक जगत् के जीवन को भी संतुलित ढंग से जी सकता है।

4.0 अंतर्यात्रा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

अंर्तयात्रा के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को जानने के लिए नाड़ीतंत्र को जानना आवश्यक होगा। नाड़ीतंत्र शरीर का एक एक अति महत्त्वपूर्ण भाग है। इसको समझने से व्यक्ति संतुलित जीवन जी सकता है। नाड़ीतंत्र को तंत्रिका तंत्र भी कहते हैं।

तंत्रिका तंत्र का एक महत्त्वपूर्ण भाग है केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र तथा दूसरा भाग है स्वायत्तशाषी तंत्रिका तंत्र। केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र के दो भाग है—मस्तिष्क और सुषुम्ना तथा स्वायत्तशाषी के भी दो भाग हैं—अनुकंपी तथा परानुकंपी। अत: इस तंत्र को समझने के बाद अतंर्यात्रा के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को आसानी से समझा जा सकता है।

4.1 केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र

केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र में मस्तिष्क और शुषुम्ना दो भाग हैं जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

4.1.1 मस्तिष्क

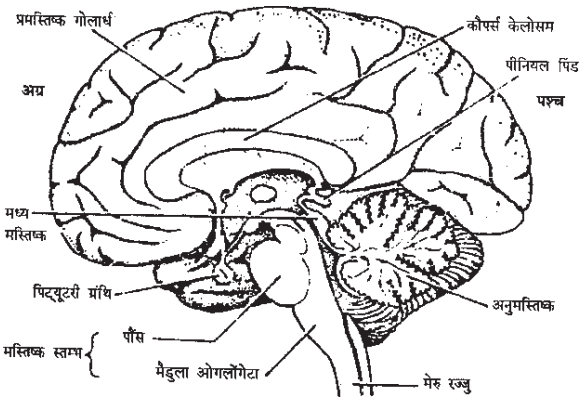

केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र का प्रमुख भाग मस्तिष्क है। यह शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। मस्तिष्क ही बुद्धि, इच्छा, संवेगों तथा संवेदनाओं का केन्द्र है। किसी कार्य को सीखने, समझने तथा उस पर विचार करने का कार्य मस्तिष्क का ही है। शरीर रूपी जीवित यंत्र का संचालन इसी के द्वारा होता है। इसलिए प्रकृति ने इसका स्थान शरीर में ऊपर की ओर रखा है और उसे दृढ़ कपाल करोटि या खोपड़ी जैसे संदूक में बंद रखा है ताकि वह सुरक्षित रहे और अपना कार्य नियमित रूप से कर सके। मस्तिष्क से शरीर के विभिन्न भागों से सदैव सूचनाएँ पहुंचती रहती हैं और मस्तिष्क प्रत्येक भाग को सूचनाओं के अनुसार आज्ञाएँ भेजता रहता है। यह कपाल-गुहा में स्थित रहता है तथा सुषुम्ना का ही सिलसिला है। इसका आकार बड़ा तथा इसकी रूपरेखा अनियमित है। सामान्य रूप से इसकी भीतरी बनावट बाह्य श्वेत द्रव्य से घिरे आंतरिक धूसर द्रव्य ही है। मस्तिष्क में धूसर द्रव्य बाहर और श्वेत द्रव्य भीतर रहता है परन्तु इसके विपरीत सुषुम्ना में धूसर द्रव्य भीतर तथा श्वेत द्रव्य बाहर रहता है। मस्तिष्क तथा सुषुम्ना का धूसर द्रव्य तंत्रिका कोशिकाओं का बना हुआ रहता है और श्वेत द्रव्य कोशिकाओं से निकलने वाले तंतुओं का रहता है। मस्तिष्क और सुषुम्ना दोनों की सुरक्षा के लिए अस्थियों के नीचे मस्तिष्कावरण या तानिकाएँ (Meninges) हैं जिसमें रेशेदार तंतुओं या झिल्लियों के तीन आवरण हैं। ये इन्हें आघात से बचाते हैं। ये झिल्लियां सुषुम्ना को ढकने वाली झिल्लियों तक आगे बढ़ी हुई होती हैं।

मस्तिष्क के भाग—मस्तिष्क के आवरणों को हटाने के बाद यह ज्ञात होता है कि यह धूसर रंग के पीले-पीले पदार्थ से बना हुआ है क्योंकि मुख्यतया यह तंत्रिका कोशिकाओं का बना होता है और जिस पर अनेक खाइयां तथा उभार दृष्टिगोचर होते हैं। भीतर का भाग या पदार्थ तंत्रिका तंतुओं के कारण सफेद दिखता है जो तंत्रिका कोशिकाओं से शुरु होकर अंदर की ओर बढ़ जाते हैं। इन खाइयों को 'परिखा' या 'फीसर' (Sulcii or fissure) कहते हैं और उभारों को मेंड़ (Ridges) कहते हैं। आकार स्थिति तथा कार्यों के आधार पर मस्तिष्क को अग्रलिखित भागों में बांटा जा सकता है।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(क) अग्रमस्तिष्क

अग्रमस्तिष्क के निम्नांकित भाग हैं—

1. चेतक—लघुमस्तिष्क के सामने तथा वृहत् मस्तिष्क के नीचे के भाग को चेतक कहते हैं। स्नायु-प्रवाहों को अपने नियत स्थानों में पहुंचाने का कार्य चेतक ही करता है। साधारण प्रकार की सीखने की क्रिया चेतक भाग द्वारा ही होती है।

2. अधश्चेतक—अधश्चेतक भाग को पुनः दो भागों में विभक्त किया जाता है—

(क) पश्च तथा पार्श्व भाग (Posterior and Lateral Portion), और

(ख) अग्र तथा केन्द्रीय भाग (Anterior and Central Portion)।

पश्च तथा पार्श्वभाग अनुकम्पी मंडल के कार्यों को संपन्न करने में पूर्ण सहयोग देते हैं। अग्र तथा केन्द्रीय भाग परानुकंपी मंडल के कार्यों को संपन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त यह तंत्रिका तंतुओं को सुषुम्नाशीर्ष (Medulla Oblongata) की ओर भेज कर श्वसन-कार्य में सहायता करता है, शरीर के ताप को नियमित तथा नियंत्रित करता है, वसा, कार्बोहाइड्रेट तथा जल की पाचन-क्रिया की नियमित रखता है। यह संवेगात्मक व्यवहारों के संचालन का प्रमुख केन्द्र है तथा पीयूष ग्रंथि से भी संबंधित है। यह पीयूष ग्रंथि की सहायता से हमारे शरीर के भीतर की सभी अंतःस्रावी ग्रंथियों के कार्य में सहायता करता है।

3. घ्राणकंद—यह नाक के ठीक ऊपर स्थित है। प्राणी-विकास के फलस्वरूप इसका स्थान बृहत् मस्तिष्क ने ले लिया है। अधिक विकसित प्राणी में इसका अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है।

4. वैसल गैंगलिया—इसके दो प्रमुख भाग हैं—(क) धारीदार भाग तथा (ख) धारीविहीन भाग। धारी वाले भाग को 'रेखी काय' (Corpus Striatum) कहते हैं। यह भाग शरीरिक मुद्राओं या स्थितियों को नियंत्रित करता और मनुष्य के व्यवहारों का सम्यक् संतुलन रखता है।

5. प्रमस्तिष्क गोलार्द्ध—यह केन्द्रीय तंत्रिका का प्रमुख भाग है। प्रमस्तिष्क के ऊपर का भाग गुम्बज की तरह और नीचे का भाग समतल होता है। कपाल-गुहा का अधिक भाग प्रमस्तिष्क से भरा रहता है। प्रमस्तिष्क वृद्धि या मेधा, इच्छा, आवेश, स्मरणशक्ति जैसे उन अधिक विकसित क्षमताओं का स्थल है जो मानव को विशिष्ट रूप से संपन्न किये हुए है। प्रमस्तिष्क द्वारा सांवदनिक, क्रियाओं, गतिवाही क्रियाओं और साहचर्य क्रियाओं का संचालन भी होता है।

(ख) मध्य मस्तिष्क

1. ऊपरी सतह पटल (Tectum) : ऊपरी सतह को दो जोड़े संवेदी केन्द्रों (Sensory Centres) में विभक्त किया गया है। एक को 'सुपीरियर कोलीकुली' (Superior Colliculi) और दूसरे को 'इनफीरियर कोलीकुली' (Inferior Colliculi) कहते हैं। सुपीरियर कोलीकुली द्वारा किसी चीज को देखने की क्रिया सम्पन्न होती है। यों देखने की क्रिया पश्चकपाल-खंड द्वारा सम्पन्न होती है। परन्तु इसके अभाव में देखने की क्रिया इनफीरियर कोलीकुली द्वारा ही संचालित एवं नियंत्रित होती है। इनफीरियर कोलीकुली पर सुनने की क्रिया आश्रित है।

2. तल (Floor) : निचली सतह को 'तल' कहते हैं। इसी द्वारा ज्ञानवाही तंत्रिका-प्रवाह मस्तिष्क के ऊँचे-केन्द्रों की ओर जाता है। प्रेरक तंत्रिका-प्रवाह इसी रास्ते से मस्तिष्क के निचले केन्द्रों में पहुंच पाता है।

(ग) पश्च मस्तिष्क

(क) सेतु (Pons)—यह अनुमस्तिष्क के सामने का भाग है। सेतु के पिछले भाग में अनुमस्तिष्क तंत्रिका तंतुओं द्वारा जुड़ा होता है। सेतु का प्रमुख कार्य है लघु मस्तिष्क तथा बृहद् मस्तिष्क के भागों को मिलाना साथ ही इन्हें मस्तिष्क के अन्य भागों से भी मिलाना।

(घ) सुषुम्ना शीर्ष—सुषुम्ना के ऊपरी भाग को सुषुम्ना शीर्ष कहते हैं। यह तंत्रिका मस्तिष्क की प्रमुख तंत्रिकाओं से संबंध स्थापित करता है और प्राणरक्षा संबंधी सभी क्रियाओं का संचालन एवं नियंत्रण करता है। सुषुम्ना-शीर्ष का नियंत्रण श्वसन एवं हृदय द्वारा होता है। यह रक्त-परिसंचरण और जैसे-जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों का नियमन करता है।

(ग) अनुमस्तिष्क—यह प्रमस्तिष्क से छोटा होता है। अनुमस्तिष्क का भार मस्तिष्क के कुल भार का दसवां भाग होता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है। एक ओर अनेक तंत्रिका-तंतुओं द्वारा इसका संबंध सुषुम्ना-शीर्ष से तथा दूसरी ओर सेतु द्वारा इसका संबंध मस्तिष्क से रहता है। अनुमस्तिष्क द्वारा पेशियों की चेष्टाओं का नियमन एवं नियंत्रण होता है। इसकी क्रिया के फलस्वरूप शरीर अपनी सामान्य स्थिति में रहता है। यह हमारी गति को असंतुलित नहीं होने देता। इसके द्वारा गति उत्पन्न करने वाली पेशियां नियंत्रित होती हैं। चलने या दौड़ने पर यह शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों, पेशियों, संधियों आदि की क्रियाओं में इस प्रकार का सामंजस्य स्थापित करता है, ताकि सभी क्रियाएँ एक-दूसरे के अनुकूल तथा उचित समय पर होती रहें और हमारी गति में बाधा नहीं पड़े। इस प्रकार शरीर को संतुलित रखने का दायित्व अनुमस्तिष्क पर रहता है। अनुमस्तिष्क के अभाव में या इसको क्षतिग्रस्त करने पर ऐसा देखा गया है कि प्राणी प्राय: अपना शारीरिक संतुलन खो बैठता है। उसकी ज्ञानेन्द्रियां तथा पाचन-शक्ति आदि पूर्ववत् काम करती हैं किन्तु चाल में बड़ा अंतर आ जाता है। चलते समय उसके पैर लड़खड़ाने लगते हैं और वह ठीक एक दिशा में नहीं चल सकता। वह उचित रूप से ठीक खड़ा भी नहीं हो सकता। उसकी पेशियों की क्रियाओं के वेग भी उसके अधीन नहीं रहते। हाथों का कांपना तथा नेत्रों को बराबर घुमाते रहना इस दशा के ही लक्षण हैं। अनुमस्तिष्क कुशल एवं बहिक्रियात्मक क्रियाओं को व्यवस्थापूर्वक क्रम में रखता है तथा शरीर की भी अभीष्ट गति को सुचारु रखता है।

मस्तिष्क जो अनेक क्रियाओं को संपादित करता है उसका स्वस्थ एवं सुचारु रहना भी आवश्यक है। अत: अंतर्यात्रा के द्वारा मस्तिष्कीय क्रियाओं पर भी इसका प्रभाव होता है। चेतक, अध:चेतक, पीनियल तथा पियूष ग्रंथियां जो मस्तिष्क में ही स्थित है, वे भी इस प्रयोग से प्रभावित होती हैं। लिम्बिक सिस्टम जो भाव का संस्थान माना जाता है, वह भी मस्तिष्क में ही स्थित है। अंतर्यात्रा का प्रयोग के द्वारा भाव संस्थान भी प्रभावित होता है। इस प्रकार मस्तिष्क के इन महत्त्वपूर्ण भागों को अंतर्यात्रा के प्रयोग से प्रभावित कर इनकी क्रियाशीलता को संतुलित किया जा सकता है साथ ही मस्तिष्कीय कार्य क्षमता को बढ़ाया जा सकता है।

अब हम स्वचालित तंत्रिका तंत्र एवं सेरिब्रेस्पाइनल फ्लुड (CSF) के बारे में भी थोड़ी जानकारी करेंगे।

4.2 स्वचालित तंत्रिका-तंत्र (Autonomic Nervous System)

शरीर के भीतर कुछ ऐसी भी तंत्रिकाएँ हैं जिनकी क्रियाओं का संबंध मस्तिष्क से नहीं रहता, परन्तु ऐसी तंत्रिकाएँ केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र से ही उत्पन्न होती हैं। क्रियाओं की भिन्नता के कारण वह एक अलग भाग बन जाता है। इस भाग की तंत्रिकाएँ हमारे मस्तिष्क को न तो सूचना ही भेजती है और न तो मस्तिष्क से कोई सूचना ग्रहण करती है। इनकी क्रिया स्वत: होती है। फुफ्फुस, हृदय की धड़कन, आमाशय की पेशियों में संकुचन तथा प्रसारण, वृक्क, मूत्राशय, गर्भाशय आदि की क्रियाएँ हमारी इच्छाओं द्वारा नहीं होतीं। वे स्वत: कार्यरत रहती हैं। इनको नियंत्रित करने वाली तंत्रिकाओं का मस्तिष्क के केन्द्रों से कोई संसर्ग नहीं रहता। आंतरिक अंगों को नियंत्रित करने वाली तंत्रिकाओं का स्वतन्त्र समूह होता है, जिसे एक पृथक् मंडल के रूप में रखा गया है। इस तन्त्र में भी तंत्रिका-कोशिका को गंडिकाएँ (Ganglion) तथा तंतु होते हैं। यह तंत्र केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र के तंतुओं द्वारा संबंधित रहता है।

क्रियाओं तथा रचना के आधार पर इस तंत्र को दो भागों में विभाजित किया गया है—

1. अनुकंपी (Sympathetic) और 2. परानुकंपी (Parasympathetic)।

1. अनुकंपी तंत्र

अनुकंपी तंत्र को 'वक्ष-कटि-विभाग' भी कहा जाता है क्योंकि इसकी गुच्छिकाएँ मेरुरज्जु के कटि और वक्ष खंडों के धूसर द्रव्य में से निकलती हैं। यदि वक्ष तथा उदर को खोलकर देखा जाए तो यह प्रतीत होगा कि पृष्ठवंश के दोनों ओर श्वेत रंग की छोटी-छोटी गंडिकाओं की लम्बी श्रृंखला निकली हुई है, जो कपाल के नीचे से प्रारम्भ होकर अनुत्रिकास्थि के अन्त तक चली गई है। ये गंडिकाएँ माला की तरह लटकी रहती हैं। मेरुरज्जु के दोनों ओर गुच्छिकाओं की इस श्रृंखला को 'अनुकंपी श्रृंखला' कहते हैं। गंडिकाएँ आपस में तंत्रिका तंतुओं द्वारा संबंधित रहती हैं और प्रत्येक गंडिका से तंतु निकल कर सुषुम्ना से मिले रहते हैं। ऐसे तंतुओं को 'गंडिका पूर्व तंतु' कहते हैं। इस प्रकार कशेरुकों के पार्श्व में 22 गंडिकाओं की एक श्रृंखला दाहिनी तथा बायी दोनों ओर स्थित हैं। इन्हें 'पार्श्व कशेरुकी गंडिकाएँ' (Lateral Vertebral Ganglion) कहते हैं। इन गंडिकाओं से गंडिका पश्च तंतु निकलते हैं जो रक्तवाहिकाओं के साथ मिलकर शरीर के विभिन्न अंगों में तंतु के रूप में फैले रहते हैं। इन गंडिकाओं तथा उनके तंतुओं को 'अनुकंपी तंत्रिका' कहते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुकंपी तंत्रिका तंत्र के कार्य

अनुकंपी तंत्रिकाओं द्वारा अनेक अंगों की क्रियाओं का नियंत्रण तथा नियमन होता है। इनकी क्रियाएं अधिक हैं। त्वचीय तंत्रिकाओं के साथ मिलकर ये त्वचा की अनैच्छिक तंत्रिकाओं से क्रिया करवाती हैं। त्वचा स्थित रक्त–वाहिकाएँ इनकी सक्रियता से ही संकुचित होती हैं और हृदय, मस्तिष्क तथा पेशियों को अधिक रक्त मिलता है, परिणामस्वरूप रक्त में दाब बढ़ जाता है। स्वेद ग्रंथियों में अधिक स्वेद बनता है। उदर के भीतर के अंगों में तंत्रानुगा (splanchnic) तंत्रिकाओं के साथ पहुंचकर अंत्रियों की गति का नियमन करते हैं। इसके द्वारा ही यकृत में ग्लायकोजिन बनता है, फिर वह ग्लूकोज में परिवर्तित होता है। पाचकक्षेत्र की चरता और स्राव अनुकंपी आवेगों से घटता है। इसके ही आवेगों से हृदय की गति बढ़ती है। मूत्राशय की भित्तियां ढीली पड़ती हैं तथा संवरणी पेशी संकुचित होती है।

अधिवृक्क ग्रंथियों में 'एड्रिनेलिन' नामक रासायनिक वस्तु इसकी क्रिया से ही बनती है जिससे शरीर के ताप का नियंत्रण तथा नियमन होता है। इस वस्तु के साथ मिलकर नियामक तंतुओं की क्रिया यकृत पर होती है, जिससे रक्त में ग्लूकोज की मात्रा बढ़ जाती है और जिसका प्रभाव रक्तवाहिनियों पर पड़ता है। यह रक्तवाहिनियों के भीतर व उनके चारों ओर के ऊतकों में उपस्थित जल की मात्रा का नियमन करता है। जब ऊतकों में जल की कमी होती है तब रक्त से जल ऊतकों में चला जाता है। जब ऊतकों में जल की मात्रा अधिक होती है, तब जल ऊतकों से रक्त में चला आता है। आवश्यकता पड़ने पर अवसर के अनुकूल शरीर में शक्ति आ जाती है। यह शक्ति इसी वस्तु तथा अनुकंपी तंत्रिका की क्रिया से उत्पन्न होती है। प्राय: यह देखा जाता है कि किसी के आक्रमण करने पर हम आक्रमणकारी का विरोध करने को तैयार हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में शरीर की पेशियां तन जाती हैं, रक्त–संचार बढ़ जाता है, मुख लाल हो जाता है, त्वचा में रोमहर्ष हो जाता है और नथुने फूल जाते हैं आदि। यह सब अनुकंपी तंत्रिका की सक्रियता के फलस्वरूप ही होता है।

परानुकंपी — इस तंत्र को 'कपाल त्रिक विभाग' भी कहते हैं; क्योंकि इसकी गुच्छिका तंत्रिका–कोशिकाएँ, मस्तिष्क और मेरुरज्जु के त्रिक खंडों में पायी जाती हैं। इसके दो भाग हैं — 1. ऊर्ध्व और 2. अधो। ऊर्ध्व भाग (Cranial Outflow) के सूत्र मध्य मसितष्क, सेतु और मेरुशीर्ष के विशेष केन्द्रों से निकलते हैं। अधो भाग (Sacral Outflow) के तंतु त्रिक प्रान्त में स्थित मेरू के तृतीय, चतुर्थ और पंचम खंडों में स्थित कोशिकाओं से निकलते हैं। मस्तिष्क से जो इसके सूत्र निकलते हैं, वे अलग तंत्रिका के रूप में नहीं रहते। इनके तन्तु तीसरी, सातवीं और दसवीं कपाल–तंत्रिका के साथ निकलते हैं।

इन तंतुओं का अन्त किसी गंडिका या जालिका में होता है। किंतु, दसवीं या वेगस के तंतु शरीर में बहुत दूर–दूर तक जाते हैं। सबसे ऊपर मध्य मस्तिष्क से आने वाले तंतु नेत्र–चालकी या तृतीय कपाल तंत्रिका के केन्द्र से निकलते हैं और परितारिका में समाप्त हो जाते हैं। इसके द्वारा ही उत्तेजनाएँ परितारा में पहुंचती हैं जिससे पेशियों में संकुचन होता है और नेत्र का तारा संकुचित तथा प्रसारित होता है। इसी प्रकार सेतु में स्थित कोशिकाएँ आनन–तंत्रिका के केन्द्र से संबंधित हैं। इनसे जो पूर्व गुच्छिका (गंडक) तंतु निकलते हैं, वे आनन–तंत्रिका के मौखिक तंत्रिका (Chordatympanic) दो शाखा में होकर जिह्वाधर और उपभंजिका (Submaxillary) ग्रंथियों के पास स्थित गुच्छिकाओं में चले जाते हैं तथा वहां से लाल ग्रंथियों में पहुंच कर वहां की रक्त–नलिकाओं को प्रसारित करते हैं और ग्रंथियों के स्राव को बढ़ाते हैं। नौवीं और दसवीं मस्तिष्कीय तंत्रिका (Vagus) के केन्द्र मेरुशीर्ष में होते हैं पर केन्द्रों से निकलने वाले पूर्वगंडक तंतु नौवीं तथा दसवीं तंत्रिकाओं द्वारा आते हैं। गौरीतंतु कर्ण (Otic) गंडिका में समाप्त हो जाता है।

वेगस–तंत्रिका का शरीर में अधिक दूर तक विस्तार रहता है। इसमें अधिकतम परानुकंपी तंतु होते हैं। मेरुशीर्ष से इसके पूर्व गंडक तंतु तंत्रिका के रूप में धमनी और शिरों के साथ–साथ ग्रीवा से होते हुए वक्ष में पहुंचते हैं जहाँ से ये फुप्फुसीय जालिका में फंसे रहते हैं। वहां से इसके तंतु वायु–प्रणालिकाओं की भित्तियों में जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि पूर्व गंडक तंतु हार्दिकी जालक तक तथा फिर जालक से तंतु हृदय में जाते हैं। फिर यह तंत्रिका उदर में चली जाती है, जहां से इसके तंतु आमाशय, क्षुद्रान्त्र, वृहदान्त्र, वृहद् पित्ताशय, पित्तनलिकाओं तथा अग्न्याशय में फैले रहते हैं। इन तंतुओं की जालिका समस्त प्रान्त की भित्तियों में रहती हैं। पूर्वगंडिका–तंतु जालिका तक जाते हैं। पश्चगंडिका–तंतु अंगों की भित्ति में जाकर

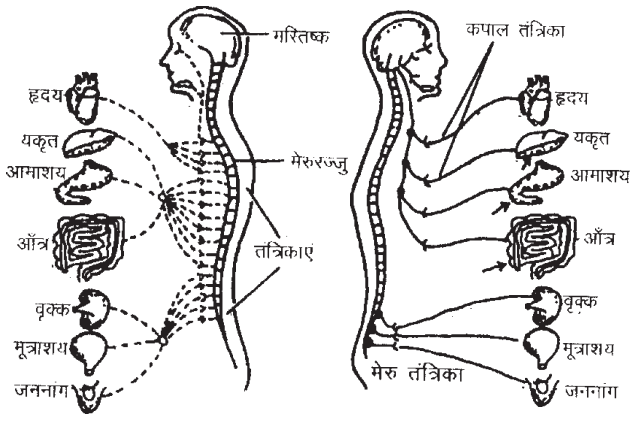

अनुकम्पी तथा परानुकम्पी तंत्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वितीर्ण हो जाते हैं और अंगों की क्रियाओं को नियंत्रित करते हैं। त्रिक तंत्रिका वृहदांत्र (Large Intestine) के शेष भाग और श्रोणि (Pelvis) में स्थित अंगों का नियंत्रण करती है। यह तंत्रिका मेरुरज्जु के दूसरे, तीसरे और चौथे कटि-खंड से अग्र मूलों के साथ बाहर निकलती हैं। मूलों से पृथक् होने के बाद यह आपस में मिलकर श्रोणिगा-तंत्रिका बनाती है। इससे वृहदतांत्र का शेष 2/3 भाग और मूत्राशय के प्रेरक तंतु मिलते हैं। इसके तंतु मूत्राशय तथा गुदा की पेशियों के संकुचन को नियंत्रित करते हैं।

परानुकंपी तंत्र के कार्य

परानुकंपी तंत्र के ऊर्ध्व भाग के तंतुओं की उत्तेजना के फलस्वरूप नेत्र का तारा संकुचित होता है, कर्णमूल, जिह्वाधर तथा अधोहनवीय ग्रंथियों से अधिक सुख उत्पन्न होता है। इससे हृदय की गति मंद होती है तथा श्वासनलिकाओं का संकुचन होता है। आमाशय-आंत्र तथा अग्न्याशय से अधिक स्राव बनता है। त्रिक से निकलने वाले तंतुओं की उत्तेजना से मलाशय, मूत्राशय, गुदाआदि का संकुचन बढ़ता है। इस तंत्र द्वारा ऐसिटिकोलीन (Acetycholine) नामक रासायनिक पदार्थ उत्पन्न होता है। तंत्रिका कोशिकाओं और अक्षतन्तु के संगम स्थानों के द्वारा जो उत्तेजना एक ओर से दूसरी ओर जाती है, वह एसिटिकोलीन के ही कारण होता है। ऐच्छिक पेशियों का संकुचन भी इस पदार्थ के कारण ही होता है। नेत्र की परितारिका, लाला ग्रंथियां, आमाशय, अंत्रियां, मूत्राशय आदि में जाने वाले परानुकंपी तंतु इस रासायनिक पदार्थ को उत्पन्न करते हैं।अनुकंपी तथा परानुकंपी दोनों तन्त्रों में गंडिकापूर्व तथा गंडिकापश्च तंतु होते हैं। परानुकंपी के गंडिकापूर्व तथा गंडिकापश्च तंतु परानुकंपी होते हैं। अनुकंपी में भी गंडिका-पूर्व तंतु परानुकंपी तथा गंडिकापश्च अनुकंपी होते हैं। शरीर के जिन अंगों में इन दोनों भागों के तंतु जाते हैं, वहाँ की क्रिया एक-दूसरी के विपरीत होती है; जैसा नीचे की सारणी से स्पष्ट होता है—

शरीर के अंग	अनुकंपी का प्रभाव	परानुकंपी का प्रभाव
हृदय	नाड़ी-स्पंदन-गति बढ़ना	नाड़ी-गति मंद करना
आहारनाल	आंत्र-गति को शिथिल करना	गति तीव्र करना
आंखें	परितारिका प्रसारित करना	प्रकुंचित करना
पाचक क्षेत्र	चरता और स्राव घटना	बढ़ाना
त्वचा तथा उदर	संकुचित करना	प्रसारित करना
पेशियों की रक्त-प्रणाली	प्रसारित करना	संकुचित करना

अनुकंपी और परानुकंपी तंत्र शरीर की क्रियाओं को संतुलित एवं नियमित रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अंतर्यात्रा के द्वारा इस तंत्र में संतुलित स्थापित किया जा सकता है। अनुकंपी तंत्र का कार्य सक्रियता लाना है तो परानुकंपी का कार्य अतिसक्रियता को कम करना। जैसे कि इन दोनों तंत्रों के कार्यों की तुलना से स्पष्ट हो जाता है। अत: अतर्यात्रा के द्वारा अनुकंपी तथा परानुकंपी तंत्र को संतुलित किया जा सकता है जिससे व्यक्ति का व्यवहार भी संयमित एवं संतुलित रह सके।

4.3 मस्तिष्क मेरु-तरल (Cerebrospinal Fluid)

प्रमस्तिष्क मेरु-तरल एक तरल, स्वच्छ तथा रंगहीन पारदर्शी पानी जैसा पदार्थ होता है। यह केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र में रहता है। केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र में लसिका वाहिनियाँ नहीं होतीं। अत: लसिका वाहिनियों का कार्य यह तरल ही मस्तिष्क में करता है।

यह तरल केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र के पार्श्व निलय (Lateral Ventricle) में रक्तक जालिका (Choroid Plexus) द्वारा बनता है। रक्तक जालिका एक केशिकाओं का गुच्छा होता है और इन्हीं केशिकाओं में स्थित तरल छनकर इस तरल का रूप ले लेता है। यह तरल लगभग 150 घन से.मी. केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र में रहता है। प्रतिदिन एक औसतन में व्यक्ति में यह 500 घन से.मी. की दर से बनता है, जिसका अधिकांश शरीर में यह अवशोषित हो जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि मेरु-तल केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र में बनता है, परिसंचरण करता है तथा यह अवशोषित होता है।

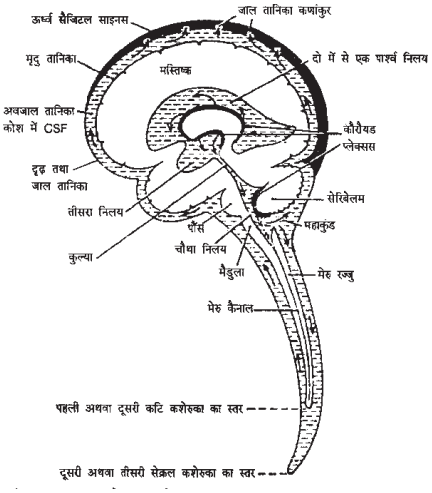

मस्तिष्क एवं सुषुम्ना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रमस्तिष्क मेरु-तरल की रचना

प्रमस्तिष्क मेरु-तरल में निम्नलिखित तत्त्व मिले रहते हैं—

1. प्रोटीन—20-30 मि.ग्रा. प्रतिशत
2. ग्लूकोज—50-80 मि.ग्रा. प्रतिशत
3. यूरिया—10-30 मि.ग्रा. प्रतिशत
4. क्लोराइड—700-750 मि.ग्रा. प्रतिशत

इनके अतिरिक्त इसमें पोटासियम, कैल्सियम, सोडियम, यूरिक अम्ल, सल्फेट तथा क्रिएटिनिल भी मिला रहता है।

तानिका-शोथ या मस्तिष्कावरण-शोथ (Meningitis) आदि रोगों में इस तरल की मात्रा बढ़ जाती है। तरल की मात्रा बढ़ जाने से मस्तिष्क-द्रव्य पर दाब पड़ता है और अधिक हो जाता है। ऐसी स्थिति में कटिवेधन (Lumbar-Puncture) कर इस तरल को मस्तिष्क से निकाल दिया जाता है।

1. यह तरल प्रमस्तिष्क मेरु के चयापचयों को नियंत्रित रखता है तथा निकास का मार्ग प्रशस्त करता है।

2. यह तरल प्रमस्तिष्क मेरु-द्रव्य के बाहर और भीतर रहता है। अत: कम या अधिक दाब पड़ने पर दाब को स्थिर रखता है। इस तरह यह मस्तिष्क को क्षतिग्रस्त होने से बचाता है।

3. यह तरल प्रमस्तिष्क मेरु-द्रव्य को कुछ अंशों में पोषक तत्त्व तथा ऑक्सीजन पहुंचाता है।

उपरोक्त चर्चा से सेरिब्रो स्पाइनल फ्लूड की महत्ता स्पष्ट होती है। अंतर्यात्रा के दौरान चित्त की यात्रा शक्ति केन्द्र से ज्ञान केन्द्र से ज्ञान तक यात्रा होती है। जहां चित्त का प्रवाह होता है वहां परवर्तन स्वत: होने लगते हैं। सी. एस. एफ. तरल द्रव के रूप में होता है जिसमें अनेक आवश्यक तत्त्वों का समावेश होता है। अतंर्यात्रा के दौरान के यह द्रव समुचित मात्रा में गति करता है। गति करने से आवश्यक तत्त्व संबंधित स्थानों में तो जाता ही है साथ ही समुचित परिसंचरण से विकार होने की संभावना भी कम हो जाती है। अत: यह द्रव अपने आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए सतत् क्रियाशील रहेगा।

5.0 अतंर्यात्रा का आध्यात्मिक दृष्टिकोण

अंतर्यात्रा के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को निम्न प्रकार समझा जा सकता है—

5.1 इड़ा पिंगला का संतुलन

ऐसा माना जाता है कि हमारे शरीर में मुख्य नाड़ियों में इड़ा और पिंगला प्रमुख हैं। इनमें एक की प्रकृति ठंडी है तो दूसरे की गर्म। शरीर में इन दोनों का संतुलन आवश्यक माना जाता है। इंड़ा-पिंगला का स्थान सुषुम्ना के दांई तथा बांई ओर है। अत: अंतर्यात्रा के दौरान सुषुमना पथ में चित्त की यात्रा करने से ये दोनों नाड़ियों में संतुलन स्थापित किया जा सकता है। इसका परिणाम केवल आध्यात्मिक ही नहीं होगा वरन् व्यवहारिक भी होगा। जहां इड़ा की सक्रियता से व्यक्ति में दब्बूपन आ जाता है वहीं पिंगला की सक्रियता से व्यक्ति उत्तेजित हो जाता है। अत: इन दोनों का संतुलन से व्यक्ति का व्यवहार भी संतुलित हो सकेगा।

5.2 सुषुम्ना का जागरण

ध्यान-साधना प्राण को साधने की पक्रिया है। शरीर स्थित 72 हजार नाड़ियों में इड़ा-पिंगला और सुषुम्ना को प्रमुख माना जाता है। साधना के द्वारा इड़ा-पिंगला नाड़ियों से प्राण का प्रवाह सुषुम्ना पथ में प्रवाहित किया जाता है जिससे साधक अपनी आध्यात्मिक साधना में गतिशील होता है। संषुम्ना एक ऐसी महत्त्वपूर्ण नाड़ी है जिसका संबंध शरीर के लगभग अंगों से है। संषुम्ना का अंतिम छोर शक्ति केन्द्र के नाम से जाना जाता है। कहा जाता है कि यहां पर शक्ति सुप्त अवस्था में रहती है। इस सुप्त शक्ति का कोई विशेष उपयोग नहीं हो पाता है। अत: अंतर्यात्रा के द्वारा सुषुम्ना में शक्ति के जागरण से इसका ऊर्ध्वारोहण किया जाता है। ज्ञानकेन्द्र पर इस शक्ति को पहुंचाकर साधक अपने जीवन में आनंद का अनुभव कर सकता है। कहा जाता है कि जहां चित्त की यात्रा होती है, वहीं प्राण का अनुगमन भी होता है। अंतर्यात्रा में चित्त को शक्ति केन्द्र से ज्ञानकेन्द्र तक की यात्रा कराई जाती है जिससे प्राण भी उसी के अनुरूप गति करता है। चित्त की यह यात्रा अनुभव के साथ आगे बढ़ती है। इसी के कारण प्राण की यात्रा भी ऊर्ध्वमुखी होती है। अत: कहा जा सकता है कि अंतर्यात्रा का प्रयोग सुषुम्ना के जागरण की प्रक्रिया है।

सुषुम्ना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बोध–प्रश्न

1. अन्तर्मुखता का अर्थ क्या है?
2. केन्द्रीय तंत्रिका–तंत्र के कितने भाग हैं?
3. वैसल गंगलिया के कितने भाग हैं?
4. वक्ष कटीविभाग किसे कहा जाता है?
5. शरीर की क्रियाओं को संतुलित एवं नियमित रखने में किसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है।

6.0 अंतर्यात्रा की उपलब्धियाँ

अंतर्यात्रा की उपलब्धियों को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है—

6.1 शारीरिक स्वास्थ्य की उपलब्धि

अंतर्यात्रा के द्वारा शरीर स्वस्थ होता है। वैज्ञानिक दृष्टि से अनुकंपी तथा परानुकंपी तंत्र में संतुलन स्थापित होता है जिससे व्यक्ति का व्यवहार भी संतुलित रहता है। साथ ही इस तंत्र से जुड़े अवयव भी सुचारु तथा व्यवस्थित रूप से अपने कार्य का निर्वाह करते हैं। उदाहरणार्थ क्रोध के समय अनुकंपी तंत्र तंत्र सक्रिय रहता है तो श्वास की दर बढ़ जाती है, हृदय की धड़कन बढ़ जाती है आदि। इससे स्पष्ट है कि श्वसन तंत्र तथा रक्त संचरण तंत्र आदि पर इसका प्रभाव पड़ता है। यदि यह तंत्र इसी प्रकार असंतुलन की स्थिति में रहे तो उससे संबंधी अवयव भी अस्वस्थ हो जाएंगे। इसका यही परिणाम होगा कि व्यक्ति का स्वास्थ्य सही नहीं रह पाएगा। इसके विपरीत यदि परानुकंपी अति सक्रिय रहे तब भी उस तंत्र से संबंधित अवयव अति सक्रिय रहने से स्वास्थ्य कमजोर हो जाएगा। अत: अंतर्यात्रा के द्वारा इन दोनों तंत्रों को संतुलित एवं स्वस्थ रखा जा सकता है। योग शास्त्र के अनुसार प्राण की तीन महत्त्वपूर्ण नाड़ियां हैं—इड़ा और पिंगला और सुषुम्ना। इन तीनों में असंतुलन होने से स्वास्थ्य प्रभावित होता है। अत: अंतर्यात्रा के द्वारा प्राण का संतुलन स्थापित होने से शरीर की प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास हो सकेगा।

6.2 मानसिक स्वास्थ्य की उपलब्धि

मानसिक शक्तियों का विकास सफलता के लिए आवश्यक होता है। इन मानसिक शक्ति के सभी केन्द्र मस्तिष्क में विद्यमान हैं। स्मरण, कल्पना, चिंतन, तर्क, निर्णय, अभिव्यक्ति आदि शक्तियां मस्तिष्क से ही संबंधित हैं। मस्तिष्क का वजन शरीर के अनुपात में 2 प्रतिशत होता है लेकिन इसे 20 प्रतिशत पोषण की आवश्यकता होती है। सामान्यत: मस्तिष्क को भोजन और श्वास से ऊर्जा मिलती है लेकिन उच्च शक्तियों के विकास के लिए अंतर्यात्रा का प्रयोग महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अंतर्यात्रा के द्वारा शक्ति केन्द्र से ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण कर मस्तिष्क को ऊर्जावान बनाया जा सकता है। मस्तिष्क की यह अतिरिक्त ऊर्जा मस्तिष्कीय क्रिया–कलापों को व्यवस्थित ढंग से करने में तो सहायक होगी ही साथ ही नये आयामों को खोलने में भी सहायक हो सकेगी।

6.3 भावनात्मक स्वास्थ्य की उपलब्धि

मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्ति के व्यवहार का आदि स्रोत भाव है। भाव व्यवहार में प्रकट होने पर संवेग कहलाते हैं। ये संवेग वैसे ही होंगे जैसे कि भाव होंगे। अत: भावों की निर्मलता व्यवहार की निर्मलता के लिए बहुत आवश्यक है। जहां सकारात्मक भाव व्यक्तित्व विकास में सहायक होते हैं वहीं निषेधात्मक भाव व्यक्तित्व को विघटित करते हैं। निषेधात्मक भाव व्यक्ति की शक्ति को क्षय करते हैं। बिना शक्ति अथवा बिना ऊर्जा के व्यक्ति अपने जीवन में बहुत बड़ा कार्य नहीं कर सकता है, बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं कर सकता है। इसलिए जीवन की सफलता के लिए आवश्यक है भाव शुद्धि। भाव का उद्‌गम स्थल मस्तिष्क का एक भाग लिम्बिक सिस्टम माना जाता है। अंतर्यात्रा के द्वारा प्राण के संतुलित प्रवाह से भावधारा पर भी इसका सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। साथ नाड़ीतंत्र का संतुलन होने से भावधारा भी प्रभावित होगी। अत: अंतर्यात्रा का प्रयोग भावनात्मक स्वास्थ्य को बनाए रखने में सहायक हो सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अन्तर्यात्रा का प्रयोग अनेक प्रकार से उपयोगी सिद्ध होता है। इस प्रयोग के वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक पक्ष की जनकारी से व्यक्ति अपने जीवन को उपयुक्त दिशा दे सकने में समर्थ हो सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बोध प्रश्न

1. वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

1. अन्तर्यात्रा का प्रमुख प्रयोजन क्या है?
2. प्राण की कितनी धाराएँ हैं?
3. घ्राणकंद कहाँ स्थित है?
4. प्रमस्तिष्क मेरु-तरल कहां रहता है?
5. ईड़ा-पिंगला नाड़ियां कहां स्थित हैं?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न—

1. अन्तर्यात्रा का प्रयोजन क्या है?
2. अन्तर्यात्रा की निष्पत्तियां लिखिए।

3. निबंधात्मक प्रश्न—

1. अन्तर्यात्रा का आध्यात्मिक-वैज्ञानिक दृष्टिकोण क्या है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
2.0 भूमिका
3.0 श्वास–प्रेक्षा का प्रयोजन
4.0 श्वास–प्रेक्षा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण
5.0 श्वास–प्रेक्षा का आध्यात्मिक दृष्टिकोण
6.0 श्वास–प्रेक्षा : प्रकार
7.0 श्वास–प्रेक्षा की निष्पत्तियां

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ के निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है—

1. श्वास–प्रेक्षा के प्रयोजन को समझा जा सकता है।
2. श्वास–प्रेक्षा के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को समझा जा सकता है।
3. श्वास–प्रेक्षा के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को समझा जा सकता है।
4. श्वास–प्रेक्षा की निष्पत्तियों को समझा जा सकता है।

2.0 भूमिका

श्वास जीवन की आवश्यकता एवं अनिवार्यता है। श्वास जीवन का आधार है। श्वास के माध्यम से ही शरीर में आक्सीजन की आपूर्ति होती है। दूसरे शब्दों में श्वास के माध्यम से ही प्राणवायु शरीर को मिलती है। अत: श्वास जीवनी शक्ति का संवाहक है। इसके बिना कुछ समय तक तो ठहरा जा सकता है लेकिन अधिक समय तक नहीं। इसका कारण है कि शरीर को प्रतिक्षण प्राणवायु की आवश्यकता होती है। भोजन–पानी की तुलना में यह अधिक उपयोगी है क्योंकि भोजन–पानी के बिना व्यक्ति कुछ दिनों तक भी रह सकता है लेकिन श्वास के बिना नहीं। इसलिए इस श्वास को समझना, इसका सही उपयोग करना श्वास–प्रेक्षा का महत्त्वपूर्ण कार्य है।

3.0 श्वास–प्रेक्षा का प्रयोजन

श्वास–प्रेक्षा के प्रयोजन को निम्न प्रकार समझा जा सकता है—

ज्ञाता–द्रष्टा भाव

श्वास–प्रेक्षा ज्ञाता–द्रष्टा भाव को विकसित करने का सक्षम उपाय है। हमारी चेतना का मूल धर्म है—जानना और देखना, ज्ञाता–भाव और द्रष्टा–भाव। हम जब अपने अस्तित्व में होते हैं—आत्मा की सन्निधि में होते हैं तब केवल जानना ओर देखना—दो ही बातें घटित होती हैं किन्तु जब बाहर आते हैं, अपने केन्द्र से हटकर परिधि में आते हैं तब साथ में और कुछ जुड़ जाता है, मिश्रण हो जाता है। मिश्रण होते ही जानना–देखना छूट जाता है और सोचना–विचारना, चिन्तन करना, मनन करना रह जाता है। चिन्तन–मनन सत्य की खोज के साधन नहीं हैं। सत्य की खोज के लिए अध्यात्म की चेतना को जगाना होगा। यह द्रष्टाभाव से ही सम्भव होता है। श्वास को देखना चेतना–जागरण की दिशा में पहला कदम है। सही दिशा में उठाया गया कदम मंजिल तक पहुंचाने वाले अगले कदमों की श्रृंखला का आदि बिन्दु होता है। श्वास को देखना आत्म–साक्षात्कार की मंजिल तक पहुंचने का पहला कदम है।

श्वास को देखने का अर्थ है—दर्शन की बात पर आ जाना। यहां सोचना छूट जाता है, केवल देखना रह जाता है। देखना शुरु करते ही विचारों और विकल्पों पर प्रहार होने लग जाता है। विकल्पों से हटकर अविकल्प और चिन्तन से हटकर अचिन्तन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पर कदम बढ़ने लगते हैं। श्वास-प्रेक्षा के द्वारा हम जानने और देखने की मूल प्रवृत्ति का प्रारंभ करते हैं, ज्ञाता भाव, दृष्टा भाव को विकसित करते हैं। जब हम श्वास-प्रेक्षा का अभ्यास करते हैं तब श्वास के साथ चित्त को जोड़ते हैं या चित्त से श्वास को देखते हैं। श्वास को देखते हैं किन्तु सोचते नहीं। मूलत: 'केवल देखने' का यह प्रयत्न है। साथ-साथ एकाग्रता भी सधती है किन्तु हम श्वासप्रेक्षा केवल एकाग्रता के लिए नहीं करते, ज्ञाता-द्रष्टा भाव को विकसित करने के लिए करते हैं।

4.0 श्वास-प्रेक्षा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

भोजन पानी की तुलना में श्वास भोजन से अधिक मूल्यवान् ऊर्जा-स्रोत है। वस्तुत: श्वास ही जीवन है। हमारे जीवन की प्रत्येक क्रिया श्वसन के साथ गाढ़ रूप से जुड़ी हुई है। श्वसन क्रिया का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है — शरीर की कोशिकाओं से नि:सृत कार्बन-डाई-ऑक्साइड को शरीर से बाहर निकाल देना। कोशिकाओं में ऊर्जा के लिए ऑक्सीजन की निरन्तर आवश्यकता होती है तथा ऊर्जा उत्पादन की क्रिया के साथ-साथ कार्बन-डाई-ऑक्साइड पैदा हो जाता है। यदि इसे शरीर के भीतर एकत्रित होने दिया जाए तो उससे कोशिकाएँ विषाक्त हो जाएँगी। सम्यक् श्वास के सर्वोपरि महत्त्व को किसी भी प्रकार उपेक्षित नहीं किया जा सकता पर दुर्भाग्य से बहुत थोड़े ही लोग सही और पूरा श्वास लेते हैं। दुर्बल स्वास्थ्य के अनेक लक्षण रक्त की अपर्याप्त ऑक्सीजन-आपूर्ति तथा मंद परिसंचरण के परिणाम हैं। हम न केवल गलत ढंग से श्वास लेते हैं अपितु बहुत बार जो श्वास लिया जाता है, वह भी अशुद्ध एवं दूषित होता है। परिणामस्वरूप हमारी स्नायविक दुर्बलता और उत्तेजना बढ़ती है और रोगों का प्रतिकार करने की हमारी शक्ति में भारी कमी हो जाती है।

4.1 श्वसन-प्रक्रिया

फुफ्फुस (फेफड़े) अपने आप में मांसपेशी रहित होते हैं। अत: श्वसन-प्रक्रिया की आवश्यक क्रिया में उनका सीधा योगदान नहीं मिलता। यह यांत्रिक बल तीन प्रकार से उपलब्ध हो सकता है —

1. तनुपट (डायाफ्राम) को ऊपर नीचे खिसकाकर,
2. अन्तपर्शुकीय मांसपेशियों के संकुचन-विस्तरण के द्वारा,
3. हंसली के हिस्से को ऊपर-नीचे खिसका कर।

कोशिकाओं तक ऑक्सीजन को पहुंचाने का दायित्व हृदय का होता है जो पम्पिंग के द्वारा ऑक्सीजन युक्त हीमोग्लोबिन वाले रक्त को शरीर के समस्त भागों तक पहुंचा देता है। आंतरिक श्वसन-क्रिया शरीर के विभिन्न भागों में क्रियाशील ऊतकों के भीतर घटित होती है। इस क्रिया के दौरान हीमोग्लोबिन से मुक्त होकर ऑक्सीजन-स्कंध ऊतकों को उपलब्ध कराए जाते हैं तथा कार्बन-डाई-ऑक्साइड — स्कंध रक्त में मिलाकर वापस फुफ्फुस की ओर भेज दिए जाते हैं।

जहां शरीर की अधिकांश महत्त्वपूर्ण प्रणालियों का नियमन स्वत: (अनैच्छिक) नियंत्रण से किया जाता है वहां श्वसन-क्रिया का नियमन ऐच्छिक और अनैच्छिक दोनों प्रकार से होता है। सामान्य रूप से चलने वाली लयबद्ध श्वास-प्रक्रिया को श्वसन-मांसपेशियों में फुफ्फुस-तंत्रिकाओं के माध्यम से श्वसन-केन्द्र को फीडबैक-पद्धति द्वारा सूचना भेजकर चालू रखा जाता है। इसके अतिरिक्त ऐच्छिक क्रिया के द्वारा भी इसे (श्वसन-केन्द्र को) प्रभावित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति अपने श्वास को कुछ देर के लिए ऐच्छिक रूप से रोक भी सकता है। श्वसन-क्रिया में श्वास नाक से आता है और मुंह बन्द रखा जाता है। ऐसा करने से हवा में कीटाणु, धूलि-कण तथा अन्य प्रदूषण नासिकाओं के भीतर रही हुई श्लेष्मा-झिल्ली की स्निग्धता के कारण तथा नाक में स्थित बालों के कारण वहां रोक दिये जाते हैं। श्वसन में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्वास को भीतर लेते समय पेट को भीतर डालने की बजाय बाहर फुलाना चाहिए। सामान्य रूप से लोग श्वास लेते समय पेट को सिकोड़ते हैं जो ठीक नहीं है। उसी प्रकार श्वास छोड़ते समय पेट को सिकोड़ना चाहिए।

सामान्य रूप से व्यक्ति एक श्वास के दौरान आधा से 1 लीटर हवा लेता है किंतु सही अभ्यास के द्वारा इस मात्रा को चार-पांच लीटर तक बढ़ाया जा सकता है। हममें से अधिकांश व्यक्ति छोटे टुकड़ों में छिछला श्वास लेते हैं जिसकी संख्या 15 से 16 प्रति मिनट होती है। प्रशिक्षण के द्वारा हम मंद एवं लम्बा श्वास लेने का अभ्यास बढ़ा सकते हैं। श्वास की गति को मंद करने से एक मिनट में चार या पांच श्वास तक आसानी से पहुंचा जा सकता है। मंद श्वास के द्वारा हमें अनेक लाभ होते हैं। जैसे —

1. सारे शरीर में होने वाली टूट-फूट की गति में मंदता,
2. हृदय के कार्यभार में कमी,
3. रक्तचाप में अनावश्यक वृद्धि को रोकना,
4. स्नायविक शांति में वृद्धि।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.2 वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्ण श्वास

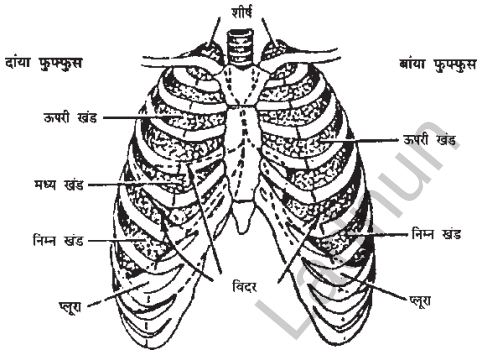

वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्ण श्वसन का प्रारम्भ मंद, शांत एवं पूरे उच्छ्वसन के साथ होता है। अन्त:श्वास समाप्त होने पर जब उसके लिए प्रयुक्त मांसपेशियां शिथिल हो जाती हैं तब विकसित छाती का हिस्सा अपने भार से ही सिकुड़ जाता है और भीतर की हवा बाहर निकलनी प्रारंभ हो जाती है। उसके बाद पेट की मांसपेशियों को संकुचित करने से तनपुट ऊपर की ओर खिसकता है जिससे फुफ्फुस में से और अधिक हवा निष्कासन करने में सहायता होती है। फुफ्फुसीय ऊतकों की स्पंजी रचना के कारण हवा का अंश भीतर रह जाता है। यह अवशिष्ट हवा अन्त:श्वसन के द्वारा ताजी प्रविष्ट हवा के साथ मिलकर आगे की प्रक्रिया के लिए प्राप्त हवा के रूप में काम आती है। फुफ्फुसों को जितना अधिक खाली किया जाएगा उतना ही उनमें ताजी हवा का प्रवेश अधिक मात्रा में हो सकेगा और श्वास-प्रकोष्ठों में उपयोगार्थ हवा उतनी ही अधिक विशुद्ध या अमिश्रित रह सकेगी। अत: जब तक पूरी तरह उच्छ्वसन नहीं करते तब तक अन्तर्श्वसन पूरा और सम्यग् नहीं हो सकता।

फुफ्फुसों को खाली करने के बाद दूसरा कदम उन्हें अधिक से अधिक भरने का है। फुफ्फुसों में समाने वाली हवा की मात्रा को फुफ्फुसीय क्षमता अथवा प्राण-क्षमता कहते हैं। औसतन रूप में यह लगभग 6 लीटर है। इस क्षमता को बढ़ाने की बात करने से पहले क्षमता का पूरा उपयोग हो सकता है, यह चिंतन आवश्यक है।

फुफ्फुस के इर्द-गिर्द श्वसन-क्रिया में उपयोगी तीन प्रकार की मांसपेशियों का उल्लेख किया जा चुका है। ये तीन प्रकार की मांसपेशियाँ हैं—

1. अंतरापर्शुक मांसपेशियां-ये पसलियों के ऊपर और नीचे के छोर से संलग्न रहती हें। इन मांसपेशियों के संकुचित होने पर पसलियों का समूचा ढांचा ऊपर तथा बाहर की ओर फैलता है और इनके शिथिल होने पर वह उसके विपरीत दिशा में गति करता है। अथ्रात् संकुचित होता है।

2. तनुपट (डायफ्राम)-श्वसन क्रिया में उपयोगी मांसपेशियों में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका आकार गुंबद जैसा होता है। यह मांसपेशी वक्षीय गुहा के तल के रूप में तथा उदरीय गुहा के छत के रूप में होती है। जब इसे संकुचित किया जाता है तब यह उदरीय अंगों को नीचे की ओर दबाती है तथा वक्षीय गुहा के परिणाम को बढ़ाती है।

3. हंसली की मांसपेशियां-हंसली को ऊपर को उठाकर इन मांपेशियों का संचालन किया जाता है। इस क्रिया के द्वारा फेफड़े के ऊपर के हिस्से में हवा का प्रवेश होता है।

पूरे लंबे अंतर्श्वसन के लिए उक्त तीनों प्रकार की मांसपेशी समूहों का संयुक्त उपयोग किया जाता है। यह क्रिया एक ही बार में लयबद्ध रूप में की जानी चाहिए। हवा का भीतर प्रवेश निरंतर होना चाहिए बीच-बीच में हॉफना नहीं चाहिए।

4.3 पूर्ण श्वसन के लाभ

कोशिकाओं के सुचारु रूप से संचालन तथा क्षमता-वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन उपलब्ध हो, इसलिए सही रूप में श्वास लेना बहुत जरूरी और महत्त्वपूर्ण है जिससे कि शरीर की प्रत्येक कोशिका को पर्याप्त ऑक्सीजन मिल सके। फुफ्फुसों में वायुओं का आदान-प्रदान भली-भांति तभी हो सकता है जबकि श्वसन-क्रिया पूरी और मंद हो। फुफ्फुस की औसत क्षमता 5 से 6 लीटर तक है पर सामान्यत: मनुष्य इस क्षमता का 10 या 20 प्रतिशत ही उपयोग कर पाता है। शरीर-वैज्ञानिकों के अनुसार यह आवश्यक है कि संग्रहीत हवा श्वासकोषों में 10-12 सैकेण्ड तक रहे, जिससे ऑक्सीजन और कार्बन-डाई-ऑक्साइड का अधिकतम विनिमय हो सके। इस प्राथमिक आवश्यकता के अतिरिक्त यह भी जरूरी है कि सम्यक् श्वसन के द्वारा हवा के आवागमन से सम्पूर्ण फुफ्फुसों की सफाई पूरी तरह हो। अन्धकार, ऊष्मा एवं आर्द्रता-युक्त फेफड़ों की सफाई ठीक न होने पर वे सूक्ष्म किंतु खतरनाक कीटाणुओं के प्रजनन के उपयुक्त स्थान बन जाते हैं।

यदि श्वसन-क्रिया पूर्णत: वैज्ञानिक रूप से की जाए तो उसके परिणामस्वरूप फुफ्फुसों में अत्यधिक शक्तिशाली चूषण-क्षमता उत्पन्न की जा सकती है। लम्बे और मंद श्वास के द्वारा फुफ्फुसों में यकृत जैसे अवयवों में एकत्रित रक्त को खींचने के लिए एक

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Lucknow

प्रकार की चूषण-शक्ति पैदा होती है। तनपुट और पसली-पिचर के सम्यक् लयबद्ध स्पंदन पूरे शरीर में होने वाली शिरीय रक्त-संचार को बेहतर और सक्रिय बनाने में योगदान देते हैं। इस प्रकार हृदय और फेफड़ों — इन दोनों संचालन-बलों का सम्यक् संयोजन रक्त के परिसंचरण को श्रेष्ठ बना सकता है। ऐच्छिक और सुनियोजित दीर्घश्वास के द्वारा प्राणधारा को प्रभावित किया जा सकता है जिससे शरीर के किसी भी प्रकार के अवयव-संबंधी या क्रिया-संबंधी विकार या गड़बड़ी को पूर्णत: ठीक नहीं तो कम-से-कम अंशत: प्रभावित तो किया ही जा सकता है। यद्यपि यह प्राणधारा तीव्र आगन्तुक और औपसर्गिक विकारों को पूर्णत: ठीक करने में समर्थ न भी हो, तो भी शरीर की प्रतिकार-शक्ति को बलवती बनाने में एवं शरीर को विकारों से मुक्त रखने में निश्चित ही महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान करती है।

5.0 श्वास-प्रेक्षा का आध्यात्मिक दृष्टिकोण (Spiritual Perspective)

श्वासप्रेक्षा के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को निम्न बिन्दुओं द्वारा समझा जा सकता है —

5.1 प्राण का आहरण

श्वास का सम्बन्ध है प्राण से, प्राण का संबंध है पर्याप्ति से अर्थात् उस साधन या माध्यम से जिनसे प्राण को ग्रहण किया जाता है। यह जीवन के पहले ही क्षण में निर्मित हो जाता है। प्राण को भी प्राण चाहिए। वह प्राण आकाश-मंडल से प्राप्त होता है। सारे आकाश-मंडल में प्राण-चक्र फैला हुआ है। आहार-पर्याप्ति के योग्य वर्गणाएँ सारे आकाश में फैली हुई हैं। ऊर्जा की या प्राण-शक्ति की वर्गणाएँ फैली हुई हैं। वे प्राप्त होती हैं — श्वास के माध्यम से। हम केवल श्वास ही नहीं लेते वरन उसके साथ प्राण भी लेते हैं। शरीर-शास्त्र के अनुसार जब-जब हम श्वास लेते हैं तब बाहर की हवा भीतर जाती है जिसमें ऑक्सीजन होता है। कर्मशास्त्र की भाषा में हम प्राण लेते हैं। श्वास के साथ जाने वाला प्राण उस प्राण को संवर्द्धित करता है।

जैन आगम भगवती और प्रज्ञापना में यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि जीव कब आहार लेता है और कितनी दिशाओं से आहार लेता है? प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जीव पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्वदिशा और अधोदिशा — छहों दिशाओं से आहार लेता है। केवल-आहार (मुंह से ग्रहण किया जाने वाला भोजन आदि) का प्रसंग ही नहीं है, रोम-आहार (रूंओं से ग्रहण किए जाने वाले सूक्ष्म पोषक तत्त्व) भी अल्प मात्रा में होता है। वहां आहार का अर्थ है — प्राण-तत्त्व का आहार। जीव जीवित रहने के लिए निरन्तर बाहर से आहरण करता है, वह निरन्तर प्राण-ऊर्जा लेता है। यह आहरण कभी नहीं रुकता।

ऊर्जा या प्राण के आहरण का सशक्त माध्यम है — श्वास। वह निरंतर चलता है तो आहरण भी निरन्तर चलता है। श्वास का संबंध है प्राण से, प्राण का संबंध है सूक्ष्म प्राण से और सूक्ष्म प्राण का संबंध है सूक्ष्मतम शरीर से — कार्मण शरीर से।

5.2 श्वास और प्राण

श्वास भीतर जाता है, उसके साथ प्राणवायु भीतर जाता है। प्राण तत्त्व भी भीतर जाता है और प्राण-तत्त्व का ऊर्जा के रूप में परिणमन होता है। हमारे जीवन का समूचा क्रम — हमारी सारी प्रवृत्तियां प्राण-शक्ति या प्राण ऊर्जा के द्वारा संचालित होती हैं। यदि प्राण की ऊर्जा नहीं है तो चेतना टिक नहीं सकेगी। बोलना, चलना, देखना, इन्द्रिय, मन और बुद्धि का क्रियाशील होना — ये सब प्राण-ऊर्जा के कार्य हैं। इनकी सक्रियता की पृष्ठभूमि में प्राण का प्रवाह कार्य करता है। शरीर, मन और इन्द्रियां अचेतन हैं, प्राण-ऊर्जा का योग पाकर वे सभी सचेतन हो जाते हैं। हम जितना गहरा श्वास लेते हैं, उतनी ही अधिक प्राण-शक्ति प्राप्त होती है। जब हम श्वास-प्रेक्षा द्वारा श्वास-दर्शन करते हैं तब प्राण-शक्ति और बढ़ जाती है। जो यौगिक प्रदर्शन आज देखने में आते हैं वे सारे श्वास के स्तर पर घटित होने वाले प्राणशक्ति के प्रदर्शन हैं। इसके आधार पर मोटर या ट्रक को छाती पर से निकाला जा सकता है। आत्मा में अनंत शक्ति है, अनन्त वीर्य है। श्वास उस अनंत शक्ति का अंश है, इसलिए श्वास के प्रयोग से चमत्कार किये जा सकते हैं। हम अपनी चेतना को जागृत करना चाहते हैं — अपनी शक्ति के स्रोतों को उद्घाटित करना चाहते हैं। सूक्ष्म से परिचित होना चाहते हैं। यदि हमें सूक्ष्म से परिचित होना है तो सबसे पहले हम स्थूल को सम्यक् प्रकार से जानें। बाहर का दरवाजा खोले बिना भीतर के दरवाजे तक नहीं पहुंचा जा सकता। हमें स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति करनी होगी। ध्यान में श्वास का आलम्बन लेते हैं। इससे स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति प्रारम्भ हो जाती है। श्वास ही एक ऐसा तत्त्व है जो बाहर भी आता है और भीतर भी जाता है। दूसरा ऐसा कोई भी साधन नहीं है जो बाहर भी रहे और भीतर भी रहे। मन है पर मन बेढंगा है। वह स्वयं इतना चंचल है कि उसे आलंबन नहीं बनाया जा सकता। उसे तो आलम्बन देना पड़ेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

योग के आचार्यों ने मन को वश में करने का एक उपाय बताया है। वह उपाय है—श्वास को पकड़ते ही मन पकड़ में आ जाता है। तब मन इतना सरल, सीधा हो जाता है कि उसकी चंचलता मिट जाती है। इसलिए हमने ध्यान की प्रक्रिया में श्वास को आलंबन बनाया है। यह श्वास वह यात्री है जो बाहर की यात्रा भी करता है और भीतर की यात्रा भी करता है। यह वह दीप है जो भीतर को भी प्रकाशित करता है और बाहर को भी प्रकाशित करता है। जो भीतर की भी यात्रा करना चाहें तो हमारे पास एकमात्र उपाय है कि हम मन को श्वास के रथ पर चढ़ा दें और उसके साथ-साथ भीतर चले जाएँ। हमारी अन्तर्यात्रा प्रारम्भ हो जाएगी, हम अन्तर्मुखी हो जाएँगे, हम आध्यात्मिक बन जाएँगे। आध्यात्मिक बनने का सरल उपाय है—श्वास के साथ मन को जोड़ देना, दोनों का योग कर देना।

5.3 श्वास के आलम्बन का महत्त्व

प्रश्न हो सकता है कि श्वास को आलम्बन क्यों बनाया जाए? श्वास-क्रिया के विशिष्ट स्वरूप को हम वैज्ञानिक धारणाओं के आधार पर समझ सकते हैं। हमारे शरीर के भीतर चलने वाले तंत्रों और क्रियाओं का नियंत्रण दो प्रकार से होता है—

1. ऐच्छिक रूप से (Voluntarily), 2. स्वत: संचालित रूप से (Autonomically)।

हाथ-पैर आदि का संचालन, मांसपेशियों का आकुंचन-विकुंचन आदि क्रियाएँ स्वत: संचालित न होकर ऐच्छिक रूप से नियंत्रित की जाती हैं। दूसरी ओर पाचन (Digestion), रक्त-संचार (Blood circulation), हृदय की धड़कन (Heart-rate) आदि क्रियाएँ ऐच्छिक न होकर स्वत: संचालित होती हैं। श्वसन (Respiration) एक ऐसी क्रिया है जिसका नियंत्रण स्वत: संचालित रूप से भी होता है और ऐच्छिक रूप से भी। दूसरे शब्दों में कहें तो एक श्वास ही ऐसी क्रिया है जो जाने-अनजाने हमें संभालती है।

जब हम ऐच्छिक नियंत्रण की बात करते हैं तो उसका तात्पर्य होता है—चित्त को श्वसन-क्रिया के साथ जोड़ना। जब चित्त श्वसन-क्रिया के साथ जुड़ जाता है तब वह श्वास को पकड़ने में यानी उसकी अनुभूति करने में सक्षम बनता है। यही प्रक्रिया है—मन को एकाग्र या स्थिर करने की—उसकी चंचलता को मिटाने की। इस क्रम से प्रशिक्षित किए जाने पर मन स्थूल से सूक्ष्म को पकड़ने में भी सक्षम होता है। हम इस बात को न सोचें कि हम मन को मिटा दें। मन को मिटाना असम्भव तो नहीं पर बहुत मुश्किल है। किन्तु नाना प्रकार के आलम्बनों में भटकने वाले मन के उस भटकाव को मिटा दें, एक ही आलम्बन में लम्बे समय तक वह स्थिर रह सके ऐसा प्रयत्न करें, इसीलिए श्वास को हमने चुना है। वह एक ऐसा आलम्बन है, जो सहज है—बाहर से लाना नहीं पड़ता। जब चाहें तब उसे आलम्बन बना सकते हैं। वह न भूतकाल की स्मृति है, न भविष्य की कल्पना है अपितु वर्तमान की वास्तविकता है। जब चित्त श्वास पर केन्द्रित होता है तो हमें वर्तमान में जीने का अवसर प्राप्त होता है। वह एक शुद्ध और पवित्र आलम्बन है। उसके प्रति हमारा कोई राग-द्वेष हो ही नहीं सकता।

5.4 दीर्घ श्वास

श्वास दो प्रकार का होता है—सहज और प्रयत्न-जनित। प्रयत्न के द्वारा श्वास में परिवर्तन किया जा सकता है—छोटे श्वास को दीर्घ बनाया जा सकता है साधना को विकसित करने के लिए प्राण-शक्ति की प्रचुरता अपेक्षित होती है। प्राण-शक्ति के लिए श्वास का ईंधन चाहिए। श्वस का ईंधन जितना सशक्त होगा, प्राण-शक्ति उतनी ही सशक्त होगी और प्राण-शक्ति जितनी सशक्त होगी, हमारी साधना उतनी ही सफल होगी। श्वास को सशक्त बनाने के लिए ही हम उसे 'दीर्घ' बनाते हैं।

सामान्यत: व्यक्ति एक मिनट में 15-17 श्वास लेता है। इसके आस-पास दो स्थितियाँ बनती हैं। एक स्थिति—श्वास की संख्या को बढ़ाने की और दूसरी स्थिति है श्वास की संख्या को घटाने की। दूसरे शब्दों में एक स्थिति है श्वास को छोटा करने की और दूसरी स्थिति है श्वास को लम्बा करने की। ये दो स्थितियाँ बनती हैं। जो व्यक्ति साधना-रत नहीं हैं, जो बहुत आवेगशील हैं वे व्यक्ति उस दिशा में प्रस्थान करते हैं कि श्वास छोटा हो जाता है और उनकी संख्या बढ़ जाती है। 15-17 की संख्या 30-40, 50-60 तक बढ़ जाती है। आवेश में, कषाय में, वासना-तृप्ति में श्वास की संख्या बढ़ जाती है। श्वास की संख्या बढ़ती है, श्वास छोटा होता है और साथ-साथ प्राण-शक्ति पर उसका प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर भी उसका असर होता है किन्तु प्रेक्षाध्यान की साधना करने वाला व्यक्ति श्वास की गति व्यवस्थित करता है। यह श्वास की लम्बाई को बढ़ाता है। श्वास मंद हो, श्वास दीर्घ हो, श्वास लम्बा हो—यह साधक का प्रथम प्रयास होता है। फलस्वरूप श्वास की संख्या घटती है, लम्बाई बढ़ती है, मन शान्त होता है। इनके साथ-साथ आवेश शात होते हैं तथा उत्तेजनाएँ और वासनाएँ शांत होती हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क्र.सं.	तथ्य	औसतन श्वास की संख्या (प्रति मिनट)
1.	वासना के आवेग में	60–70
2.	क्रोध, भय आदि उत्तेजना	40–60
3.	नींद में	25–30
4.	बोलते समय	20–25
5.	चलते समय	18–20
6.	बैठे-बैठे	15–17
7.	सामान्य दीर्घश्वास	8–10
8.	दीर्घश्वास-पर्याप्त अभ्यास के बाद	4–6
9.	लम्बे नियमित अभ्यास	1–3

5.5 श्वास और संवेग

श्वास जब छोटा होता है तब वासनाएँ उभरती हैं, उत्तेजनाएँ आती हैं, कषाय जागृत होते हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जब ये उभरते हैं तब श्वास छोटा हो जाता है। इन सबसे श्वास प्रभावित होता है। इन सब दोषों का वाहन है—श्वास। ये श्वास पर आरोहण करके आते हैं। जब कभी मालूम पड़े कि उत्तेजना आने वाली है तब तत्काल श्वास को लम्बा कर दें, दीर्घश्वास लेने लग जाएँ, आने वाली उत्तेजना लौट जाएगी। इसका कारण है कि श्वास का वाहन उसे उपलब्ध नहीं हो पाया है। बिना आलम्बन के उत्तेजना या वासना प्रकट नहीं हो सकती। ध्यान की साधना करने वाला साधक मन की सूक्ष्मता को पकड़ने में अभ्यस्त हो जाता है। वह जान लेता है कि मस्तिष्क के अमुक केन्द्र में कोई वृत्ति उभर रही है। वह तत्काल दीर्घ-श्वास का प्रयोग प्रारम्भ कर देता है। उभरने वाली वृत्ति तत्काल शांत हो जाती है। साधक उन वृत्तियों का, उत्तेजना का शिकार नहीं होता।

साधक को सबसे पहला परिवर्तन जो करना होता है वह है श्वास की गति का परिवर्तन। जो इसके मूल्य को नहीं जानता, वह सच्चाई को नहीं पकड़ सकता। जो साधक दीर्घश्वास को केवल प्राणायाम के रूप में ही स्वीकार करता है, वह अपने स्वास्थ्य तक सीमित लाभ तो उठा सकता है किन्तु वह दीर्घश्वास-प्रेक्षा से होने वाले आंतरिक परिवर्तनों के लाभ से वंचित रह जाता है। हम यह स्पष्ट मानें कि दीर्घश्वास केवल प्राणायाम ही नहीं है, वह उससे आगे भी है। हम दीर्घश्वास को प्राणायाम की दृष्टि से नहीं ले रहे हैं। उसका मूल उपयोग है—वृत्तियों का शमन, उत्तेजनाओं का शमन और वासनाओं का शमन। इसके साथ-साथ शारीरिक और मानसिक लाभ भी होते हैं। जब गति में मंदता लाने का अभ्यास और आगे बढ़ता है तो साधक को अनुभव होता है कि बहुत लंबे समय तक श्वास लिए बिना रहा जा सकता है, श्वास की तरंग का निरोध किया जा सकता है। 'महाप्राण-ध्यान' की साधना आदि अनेक प्रकार की समाधियों में साधक श्वास का निरोध कर श्वासहीन स्थिति में जा सकता है।

श्वास बहुत ही मूल्यवान है, इसे छोटा न समझा जाए। यदि यह छोटी-सी बात भी समझ में आ जाती है तो साधना की बड़ी-बड़ी बातें स्वत: समझ में आ जाएँगी। मनुष्य की कठिनाई यह है कि वह सदा ध्वजा को देखता है, नींव को नहीं देखता। अध्यात्म की साधना में श्वास को देखना नींव को देखना है। श्वास-प्रेक्षा नींव का पत्थर है क्योंकि इसी पर साधना का महल खड़ा किया जा सकता है। श्वास के द्वार को खोले बिना अगले द्वारों का उद्घाटन हो नहीं सकता।

बोध-प्रश्न

1. ज्ञाता-द्रष्टा भाव को विकसित करने का सक्षम उपाय क्या है?
2. वैज्ञानिक-दृष्टि से पूर्ण श्वसन क्या है?
3. श्वसन-क्रिया में उपयोगी मांसपेशी कौन-सी है?
4. लम्बे नियमित अभ्यास से प्रतिमिनट श्वास की औसतन संख्या कितनी होती है?
5. सूर्य-चक्र कब सक्रिय होता है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.0 श्वास-प्रेक्षा : प्रकार

चेतना को शरीर में अभिव्यक्त करने का माध्यम है—श्वास। चित्त की व्यग्रता में श्वास चंचल और एकाग्रता में शांत होने लगता है। श्वास और मन का भावनात्मक ऐक्य है जिससे दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। योग के ग्रंथों में योगी का पहला विश्लेषण श्वास विजेता ही बताया गया है।

श्वास-प्रेक्षा में श्वास का नियमन, मंदीकरण तथा सूक्ष्मता का अभ्यास किया जाता है जिससे साधना की उच्च भूमिकाओं में जाने का प्रवेश द्वारा उद्घाटित हो जाता है।

श्वास-प्रेक्षा का तात्पर्य है—चित्त श्वास को ही देखता रहे अथवा चित्त और श्वास दोनों साथ-साथ चलें।

श्वास-प्रेक्षा के दो प्रकार हैं— 1. दीर्घश्वास-प्रेक्षा, 2. समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा।

6.1 दीर्घश्वास-प्रेक्षा

दीर्घश्वास में जब तनुपट का संकोच-विस्तार होता है तो नाभि के आस-पास का उदर का भाग प्रकम्पित होता है। यह प्रकम्पन एक वास्तविक वर्तमान कालिक घटना है जिसे अनुभव किया जा सकता है, देखा जा सकता है।

जानना और देखना चेतना का लक्षण है। जानने और देखने की क्षमता को विकसित करने का सूत्र है—जानो और देखो। भगवान् महावीर की साधना में जानो और देखो—यह मुख्य सूत्र है। ''आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो'' यह अध्यात्म चेतना के जागरण का महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं इस सूत्र के अभ्यास का प्रारंभ हम शरीर से कर सकते हैं। श्वास शरीर का ही एक अंग है, इसलिए सर्वप्रथम श्वास को देखें। शरीर के भीतर होने वाले स्पंदनों, कम्पनों या घटनाओं को देखें। इन्हें देखने के अनवरत अभ्यास से मन पटु हो जाता है, फिर अनेक सूक्ष्म स्पन्दन दिखने लग जाते हैं।

चित्त की दो धाराएँ हैं—विचार और दर्शन या देखना और सोचना किंतु ये दो धाराएँ एक साथ नहीं चलतीं। अर्थात् जब हम देखते हैं तो सोचते नहीं और जब हम सोचते हैं तो देखते नहीं। इस प्रकार देखना—स्मृति, चिंतन और कल्पना के चक्रव्यूह को तोड़ने का एक सशक्त साधन बन जाता है। स्थिर होकर श्वास को देखें तो विचार को स्थगित और विकल्प को शून्य बना सकते हैं। जब हम चित्त को बाह्य संवेदनों या घटनाओं से हटाकर इस आंतरिक घटना पर एकाग्र करते हैं तो यह 'ध्यान' हो जाता है, जिसे दीर्घश्वास-प्रेक्षा कहते हैं। इसमें श्वास की गति मंद या शांत होती है और शरीर तनाव रहित होता है।

दीर्घश्वास-प्रेक्षा में श्वास की समस्त पर्यायों को देखने का प्रयत्न किया जाता है। दोनों नथुनों के संधि-स्थान में चित्त को स्थापित कर आते-जाते श्वास का अनुभव किया जाता है, दोनों नथुने श्वास के भीतर प्रवेश करने और बाहर जाने के द्वार हैं, वहाँ श्वास का स्पर्श अनुभव किया जाता है। इससे आगे चित्त के द्वारा श्वास के पथ को देखा जाता है; उसकी मात्रा और गति को जाना जाता है। यह सारी वर्तमान की वास्तविक घटना है जिस पर चित्त एकाग्र किया जा सकता है। प्राय: बाहर की हवा ठंडी और उच्छ्वास की हवा गर्म होती है। अत: प्रवेश करते समय ठंडा स्पर्श और बाहर निकलते समय गर्म स्पर्श का अनुभव होता है।

6.2 समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा

जैसे दीर्घश्वास में श्वास की गति को परिवर्तित किया जाता है वैसे समवृत्ति श्वास में उसकी दिशा को बदला जाता है। एक नथुने से श्वास भीतर लेकर दूसरे नथुने से बाहर निकाला जाता है तथा फिर उसी से भीतर लेकर पहले नथुने से बाहर निकाला जाता है। यह परिवर्तन संकल्प-शक्ति के द्वारा निष्पन्न हो सकता है। इस दौरान लगातार चित्त-श्वास के साथ-साथ चलता है, उसकी प्रेक्षा करता है। यही समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा है।

दाएँ नथुने से श्वास लेने से सूर्यस्वर सक्रिय होता है। इसका संबंध पिंगला नाड़ी के साथ है। बाएं नथुने से चंद्रस्वर चलता है जो ईड़ा नाड़ी की सक्रियता से संबंधित है। समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा में नाड़ी-संस्थान का शोधन होता है, ज्ञान शक्ति विकसित होती है और अतीन्द्रिय-ज्ञान की संभावनाओं का द्वार खुलता है।

समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा मैत्री का प्रयोग है। हम इस बात का प्रयोग कर रहे हो कि जो ठंडा है, वह भी आवश्यक है और जो गर्म है, वह भी आवश्यक है। दोनों परस्पर विरोधी होते हुए भी शत्रु नहीं हैं। दोनों हमारे जीवन के लिए अत्यंत उपयोगी हैं।

दीर्घश्वास-प्रेक्षा और समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा के समय श्वास को लयबद्ध या ताल-बद्ध बनााय जाता है। इसके साथ श्वास को भीतर लेकर भीतर रोकना तथा बाहर रोकना, कुम्भक कहलाता है। इस प्रकार का प्रयोग केवल उतने समय तक किया जाना चाहिए जिससे कि वैसा करने में कठिनाई न हो। आसानी से करते हुए श्वास-संयम को क्रमश: साधा जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

7.0 श्वासप्रेक्षा की निष्पत्तियां

श्वासप्रेक्षा की निष्पत्तियां निम्न हैं—

7.1 चित्त की प्रसन्नता

प्रेक्षाध्यान-साधना की अनेक प्रकार की निष्पत्तियां हैं। वे निष्पत्तियां मानसिक भी हैं और शारीरिक भी। ध्यान सिद्ध होने का सबसे पहला प्रमाण है—चित्त की प्रसन्नता। जैसे-जैसे ध्यान सिद्ध होने लगता है, प्रसन्नता बढ़ती जाती है। हर्ष और शोक एक द्वन्द्व है। ध्यान की आराधना के द्वारा जो प्राप्त होता है, वह है—चित्त की प्रसन्नता—न हर्ष, न शोक।

7.2 मानसिक एकाग्रता

श्वास-प्रेक्षा मानसिक एकाग्रता का महत्त्वपूर्ण आलम्बन है। उससे रक्त को बल मिलता है, शक्ति के केन्द्र जागृत होते हैं, तैजस् शक्ति जागृत होती है, सुषुम्ना और नाड़ी-संस्थान प्रभावित होते हैं। हमारे क्रियात्मक और व्यावसायिक क्षेत्र में मानसिक एकाग्रता बहुत मूल्यवान् है। किसी भी कार्यक्षमता का आधार मानसिक एकाग्रता है। डॉक्टर, वकील, प्रोफेसर, कर्मचारी हो या किसी बड़े संस्थान का प्रबंध-निदेशक (मैनेजिंग डायरेक्टर) हो या सामान्य गृह-कार्य में रत गृहिणी हो—सबको अपने-अपने कार्य करने में मानसिक एकाग्रता अत्यन्त अपेक्षित है। किसी भी कार्य में जब तक चित्त एकाग्र या तन्मय नहीं होगा, तब तक उत्पादन-क्षमता (operational efficiency) का स्तर अत्यंत निम्न होगा—क्षमता का उपयोग 20 प्रतिशत और शक्ति का अनावश्यक व्यय 80 प्रतिशत होगा किन्तु जब किसी भी कार्य में चित्त की तन्मयता होगी तब क्षमता 80 प्रतिशत व अनावश्यक व्यय 20 प्रतिशत हो जाएगा अर्थात् ठीक पहले के विपरीत।

श्वास-प्रेक्षा का प्रयोग चित्त की एकाग्रता को, तन्मयता को बढ़ाने का सरल किन्तु सक्षम उपाय है। जैसे श्वास केवल वर्तमान की क्रिया है—न अतीत की स्मृति, न भविष्य की कल्पना और साधक उसी को देखने में तन्मय हो जाता है, वैसे ही व्यावसायिक क्षेत्र में भी दूसरे अनेक कार्यों को छोड़कर केवल वर्तमान के काम पर पूरा ध्यान देना ओर वैसा करने की आदत डालना, यह मानसिक एकाग्रता का प्रशिक्षण है। औद्योगिक, वाणिज्यिक और व्यापारिक क्षेत्र के बड़े संस्थान अपने वरिष्ठ प्रबंधकों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए उनके प्रशिक्षण में प्रतिवर्ष लाखों रुपये खर्च करते हैं। प्रशिक्षण देने वाले संस्थान बहुधा सेमीनार के रूप में यह कार्यक्रम चलाते हैं किन्तु वस्तुतः कार्यक्षमता का विकास करने का मूल है मानसिक एकाग्रता का प्रयोग और उसे प्राप्त करने का साधन है—श्वास-प्रेक्षा।

7.3 जागरूकता

श्वास-प्रेक्षा जागरूकता का अचूक उपाय है। इसमें हम भीतर जाने वाले और बाहर निकलने वाले श्वास को देखते हैं। दरवाजे पर खड़ा प्रहरी (चित्त) यदि जागरूक न हो तो कोई भी भीतर जा सकता है, कोई भी बाहर आ सकता है। फिर प्रहरी होने का कोई अर्थ ही नहीं है। आते-जाते को देखते-देखते चित्त जागरूक हो जाता है, फिर एक ही श्वास उससे बचकर निकल नहीं पाता, प्रत्येक श्वास को वह देख ही लेता है। श्वास और चित्त साथ-साथ चलें, सहयात्री रहें। दो साथी साथ में चलें और एक ऊंघता चले यह हो नहीं सकता। नींद आते ही साथ छूट जायेगा। श्वास का क्षेत्र सीमित है, चित्त का क्षेत्र असीमित। चित्त का काम यह नहीं कि वह श्वास की सीमा में चले, श्वास के साथ ही रहे। श्वास की यात्रा छोटी है, उसका यात्रापथ नथुने से फेफड़े तक बहुत संकीर्ण और छोटा है किन्तु चित्त का मार्ग बहुत लम्बा-चौड़ा है, बहुत दीर्घ है। वह एक क्षण में सारी दुनिया का चक्कर लगा सकता है। इतनी विशाल यात्रा करने वाले और इतनी तीव्र गति से चलने वाले चित्त को श्वास जैसे छोटे यात्री के साथ जोड़े रखना कठिन काम है किन्तु यह किया जा सकता है। ऐसा करने पर ही चित्त जागरूक हो जाता है, फिर वह कभी नहीं सोता; वह श्वास का साथी बन जाता है।

7.4 समभाव

श्वास वास्तविक है, इसलिए वह सत्य है—वर्तमान की घटना है। इस संदर्भ में श्वास-प्रेक्षा का अर्थ है— सत्य को देखना, वर्तमान में जीने का अभ्यास करना। श्वास एक घटना है। यह वर्तमान की घटना है, अतीत या भविष्य की नहीं। जिस क्षण में हम श्वास लेते हैं, उसी क्षण में हम उसे देख रहे हैं। यह वर्तमान का क्षण है। यह है—वर्तमान में जीने का अभ्यास, वर्तमान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

में रहने का अभ्यास। जब हम वर्तमान में हैं, उसे देख रहे हैं, उस समय न कोई राग है, न कोई द्वेष है, क्योंकि जब स्मृति या कल्पना नहीं है तो राग भी नहीं है और द्वेष भी नहीं है। हम स्मृति और कल्पना से मुक्त तथा राग-द्वेष से मुक्त क्षण में जी रहे हैं। यह है शुद्ध चेतना का क्षण—यहां न प्रियता है और न अप्रियता, न कोई अतीत का अनुभव है और न कोई भविष्य की चिंता।

श्वास को देखने का अर्थ है—समभाव में जीना, वर्तमान में जीना। वर्तमान में जीने का अर्थ है—मन को विश्राम देना, भार से मुक्त होना, मानसिक तनाव से छुटकारा पाना, वीतरागता के क्षण में जीना, राग-द्वेष-मुक्त क्षण में जीना। जो व्यक्ति श्वास को देखता है उसका तनाव अपने आप विसर्जित हो जाता है।

7.5 शक्ति-जागरण

हम दीर्घश्वास लेते हैं, दीर्घ-श्वास की प्रेक्षा करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हम शक्ति के मूल स्रोतों को जागृत करने का प्रयत्न करते हैं। दीर्घ श्वास को देखने की बात बहुत छोटी-सी लगती है किन्तु यह बहुत गहरी बात है। एक अंगुली को पकड़कर समूचे घर के मालिक बन जाने की बात है। हम इस प्रक्रिया में केवल प्राण को नहीं पकड़ रहे हैं वरन् समूची प्राण-शक्ति को जागृत करने का प्रयत्न कर रहे हैं। जैसे-जैसे हम श्वास को दीर्घ करते हैं, हम पूरी ऊर्जा को खींचते हैं ओर उसे देखते हैं तो शक्ति के मूल स्रोत को जागृत कर लेते हैं जिसके विस्फोट के द्वारा हमें नई-नई शक्तियां उपलब्ध होती हैं। नई दिशाओं के उद्घाटन के लिए श्वास-प्रेक्षा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार श्वास-प्रेक्षा की चर्चा करने के पश्चात् इसे विभिन्न दृष्टियों से समझना स्वतः सरल हो जाता है। अतः श्वास-प्रेक्षा जीवन में अनेक संदर्भों में उपयोगी सिद्ध होती है। जिज्ञासु व्यक्ति इसका प्रयोग अपने जीवन में अपनी आवश्यकतानुसार कर सकता है।

बोध प्रश्न

1. वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

1. चेतना का मूल धर्म क्या है?
2. हृदय का क्या दायित्व है?
3. ऊर्जा के आहरण का माध्यम क्या है?
4. श्वास में दो प्रकार कौन-से हैं?
5. मानसिक एकाग्रता का महत्त्वपूर्ण आलंबन क्या है?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न—

1. श्वास के प्रकारों को समझाइए।
2. श्वास-प्रेक्षा की निष्पत्तियां बताइये।

3. निबंधात्मक प्रश्न—

1. श्वस प्रेक्षा के वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक पक्ष को समझाइए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
2.0 भूमिका
3.0 प्रयोजन
4.0 शरीर प्रेक्षा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण
5.0 शरीर प्रेक्षा का आध्यात्मिक दृष्टिकोण
6.0 शरीर प्रेक्षा की निष्पत्तियां

1.0 उद्देश्य

'शरीर प्रेक्षा' अध्याय के द्वारा निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है—

1. शरीर प्रेक्षा के प्रयोजन को समझा जा सकता है।
2. शरीर प्रेक्षा के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को समझा जा सकता है।
3 शरीर प्रेक्षा के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को समझा जा सकता है।
4. शरीर प्रेक्षा की निष्पत्तियों को समझा जा सकता है।

2.0 भूमिका

शरीर जड़ और चेतन का संयुक्त रूप है। चेतन तत्त्व रहने तक ही यह कार्य करता है, उसके पश्चात् नहीं। इसे आत्मा का वास स्थान भी माना जाता है। इसके अतिरिक्त शरीर अनेक रहस्यों का घर है। योगियों ने इस शरीर में ही अनेक शक्तियों को उद्घाटित किया है। वैज्ञानिक दृष्टि से यह अनेक कोशिकाओं का समूह है। इसमें कई तंत्र कार्य करते हैं जिससे जीवन प्रणाली समुचित रूप से चलती है। आध्यात्मिक और वैज्ञानिक दृष्टि से शरीर की भिन्न–भिन्न व्याख्या की गई है। इन दोनों पक्षों का समझकर शरीर प्रेक्षा का प्रयोग करना सरल हो सकेगा। अतः प्रस्तुत पाठ में शरीर प्रेक्षा के वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही पक्षों को स्पष्ट किया है।

3.0 प्रयोजन

शरीर प्रेक्षा का प्रयोजन निम्न प्रकार है—

3.1 आत्म–दर्शन की प्रक्रिया

शरीर हमारी आत्मा है। जब तक उसमें प्राण–शक्ति का संचार है तब तक शरीर को सर्वथा अनात्मा नहीं कह सकते। अंगुली इसलिए हिलती है कि वह आत्मा है, शरीर में आत्मा के असंख्यात प्रदेश फैले हुए हैं।

आत्म–दर्शन का पहला प्रयोग है — शरीर को देखना।

शरीर को तब देख सकते हैं, जब शरीर–प्रेक्षा का अभ्यास करें, बाहर और भीतर चित्त को टिकाएँ, एकाग्र करें। शरीर के भीतर जो प्राण के प्रकम्पन हो रहे हो, जो रसायन काम कर रहे हैं, विद्युत् काम कर रही है, उसे देखें।

4.0 शरीर प्रेक्षा का वैज्ञानिक आधार

हम जीवन में प्रतिक्षण अपने शरीर के साथ रहते हैं किन्तु उसके प्रमुख अवयवों के विषयों में हमारी जानकारी अल्प एवं इन अवयवों से क्रियाकलापों के विषय में अल्पतर होती है। सर्वप्रथम हमें शरीर के विभिन्न तंत्रों की प्रक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करना होगा तभी हम अपने हृदय, फेफड़े और यकृत जैसे महत्त्वपूर्ण अंगों का सम्यक् परिचय कर सकेंगे उनका गलत ढंग से उपयोग करना छोड़ सकेंगे और उनकी भली–भांति देख–रेख कर सकेंगे। मानव–शरीर और अंगोपांग खरबों की संख्या में सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणिकाओं जिन्हें

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कोशिका कहते है, के द्वारा उत्पादित द्रव्य एवं शरीर के तरल पदार्थों से निर्मित है। यदि शरीर को हम इमारत कहें तो कोशिका उसकी ईंट है। यानि कोशिकाओं हमारे शरीर की इकाइयाँ हैं। इन्हें ''जीव-अणु'' की संज्ञा भी दी जा सकती है।

हमारे शरीर में खरबों कोशिकाएँ होती हैं। प्राय: सभी कोशिकाएँ इतनी सूक्ष्म होती हैं कि उन्हें देखने के लिए सूक्ष्मतम-वीक्षण यंत्र (microscope) की अपेक्षा होगी तथा उनके भीतर झांकने के लिए उससे भी अधिक शक्तिशाली सूक्ष्मतम-वीक्षण यंत्र की अपेक्षा होगी। छोटी-से-छोटी कोशिका की लम्बाई-चौड़ाई लगभग 1/200 मिलीमीटर होती है और बड़ी-से-बड़ी कोशिका 1/4 मिलीमीटर लम्बी-चौड़ी होती है।

कोशिकाओं को अपना कार्य करने के लिए शक्ति या ऊर्जा (एनर्जी) की आवश्यकता होती है। इसका उत्पादन कोशिकाओं के भीतर रहे हुए सूक्ष्मातिसूक्ष्म ऊर्जा-उत्पादन केन्द्रों (power-house) में किया जाता है। लगभग सभी ऊतकों में कोशिकाएँ जीर्ण होती रहती हैं और उनके स्थान पर नई कोशिकाएँ बनती रहती हैं। नई कोशिकाओं का निर्माण जीर्ण कोशिकाओं के विभाजन से होता है।

प्रत्येक जीवित कोशिका में सहस्रों की संख्या में विभिन्न प्रकार के रसायन विद्यमान होते हैं। ये रसायन केवल निष्क्रिय पदार्थों का मिश्रण न होकर निरन्तर सक्रिय रूप से एक-दूसरे के साथ क्रिया में प्रवृत्त रहते हैं। आनुवंशिकता की सम्पूर्ण जानकारी का संकेत भी उनमें रासायनिक रूप में होता है। शरीर के विभिन्न अंगों की संरचना भी विभिन्न रासायनिक उत्पादनों से की जाती है। भिन्न-भिन्न अंशों में विद्यमान विभिन्नता का कारण भी रासायनिक पदार्थों की रचना की विभिन्नता ही है। समान संरचना वाली कोशिकाओं के समूह एवं उनके बीच रहे हुए निर्जीव पदार्थ मिलकर ऊतक की रचना करते हैं। एक ही प्रकार के कार्यों में संलग्न अनेक ऊतकों के समूह से अवयव बनते हैं, उदाहरणार्थ — हृदय, जो कि शरीर का एकमात्र प्राण-आधार (vital) अवयव है। जीवित शरीर को टिकाए रखने के लिए ''संघ-कार्य'' एक आवश्यक स्थिति है। अर्थात् सभी अवयवों द्वारा एक-दूसरे को परस्पर सहयोग करना अत्यन्त अपेक्षित है। एक ही प्रकार के कार्यों की श्रृंखला को निष्पादित करने वाले अनेक अवयवों के समूह को ''तन्त्र'' कहा जाता है। शरीर प्रेक्षा के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को समझने के लिए शरीर के तंत्रों को समझना आवश्यक है। यहां शरीर के कुछ प्रमुख तंत्र इस प्रकार हैं-

4.1 नाड़ी-तन्त्र (तंत्रिका-तन्त्र)

नाड़ी संस्थान (Nervous System) मानव शरीर का एक जटिलतम तन्त्र है। यह शरीर के अन्य सभी तन्त्रों का नियन्त्रण व संयोजन करता है तथा उनके माध्यम से समग्र शरीर के क्रियाकलापों को संचालित करता है। इसलिए इसे शरीर का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तन्त्र माना जाता है। यदि नाड़ी-तन्त्र किसी भी कारण से विफल हो जाए, तो सारे शरीर की प्रवृत्तियां ठप्प हो जाएँगी, सारे अवयव स्तम्भित हो जाएँगे और अन्ततोगत्वा सूक्ष्म प्राणाधर क्रियाएँ बन्द हो जाएँगी। ऐसी स्थिति में न हाथ-पैर हिल सकेंगे, न बैठना-उठना होगा, न मांसपेशियों का संचालन हो सकेगा, न आँखों का संचालन हो सकेगा, न आँखों का उन्मेष-निमेष होगा और यहां तक की श्वासोच्छ्वास भी बन्द हो जाएगा।

हमारे केन्द्रीय नाड़ी संस्थान के मुख्य दो भाग हैं— 1. मस्तिष्क (Brain), 2. सुषुम्ना या मेरु-रज्जु (Spinal Cord)

मस्तिष्क का कार्य है शरीर के भीतर और बाहर से प्राप्त होने वाली सूचनाओं की जांच-पड़ताल कर उन्हें संशोधित करना तथा सुषुम्ना का कार्य है पेशी-तंत्र की सक्रियता के द्वारा शारीरिक संचालन का उत्पादन एवं नियमन करना। मस्तिष्क के कुछ हिस्से संवेगों के नियंत्रण और सूचनाओं के संग्रह के लिए जिम्मेदार होते हैं तथा व्यक्तित्व एवं बौद्धिकता के साथ भी उनका सम्बन्ध होता है।

नाड़ी-संस्थान या तंत्रिका-तंत्र की कुछ प्रवृत्तियां ऐसी हैं जो स्वत: संचालित होती हैं और कुछ प्रवृत्तियां मेरुदण्ड और मस्तिष्क के माध्यम से इच्छा द्वारा संचालित होती हैं। हाथ उठाना, आदमी की इच्छा होगी, तो हाथ उठेगा, अन्यथा नहीं। आन्तरिक अवयवों के कार्य; ग्रंथियों का स्राव आदि सारे कार्य स्वायत्त तंत्रिका-तंत्र से निष्पादित होते हैं। मेरुदण्ड से सिम्पेथेटिक और पेरासिम्पेथेटिक — अनुकंपी और परानुकंपी — ये दो प्रकार की तंत्रिकाओं के गुच्छे निकलते हैं। वहां से स्वायत्त तंत्रिका तंत्र संचालित होता है।

स्वायत्त नाड़ी-तंत्र के दो पृथक् विभाग होते हैं, जिनमें प्रत्येक विभाग एक विशेष प्रकार के कार्य को सम्पादित करता है—

1. परानुकंपी (Parasympathetic),
2. अनुकंपी (Sympathetic).

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इन दोनों की क्रिया परस्पर विपरीत है। जहां एक विभाग अंग या अवयव की क्रिया को उत्तेजित करता है, वहां दूसरा उसे शांत करता है। उदाहरणार्थ—अनुकंपी विभाग हृदय की गति एवं उसकी संकुचन-शक्ति तथा रक्तचाप को बढ़ाता है तो परानुकंपी व्यवस्था इन्हें कम करती है।

4.2 रक्त-संचरण तन्त्र

मानव-शरीर की प्रत्येक कोशिका को ग्लूकोज आदि पोषक तत्त्वों प्राणवायु (ऑक्सीजन) की आपूर्ति की निरन्तर आवश्यकता रहती है। इसके अतिरिक्त कार्बन-डाई-ऑक्साइड, यूरिया आदि अनावश्यक तत्त्वों को कोशिकाओं से हटाकर फेफड़ों, गुर्दों या यकृत में पहुंचाने की आवश्यकता रहती है जहां से उनका विसर्जन या आवश्यक शोधन किया जा सके। रक्त-परिसंचरण-तन्त्र अपनी फैली हुई शाखा-प्रशाखाओं की जटिल संरचना और अन्त:-सम्बन्ध-युक्त नलिकाओं के माध्यम से रक्त को शरीर में पहुंचाकर शरीर को यह सेवा प्रदान करता है। इस तन्त्र के प्रमुख अवयव हैं—हृदय, फेफड़े, महाधमनी, धमनियां, महाशिरा, शिराएँ और कोशिकाएँ।

रक्त को सतत् प्रवाहमान रखने के लिए जिस प्रेरक बल की आवश्यकता है, वह है हृदय नामक शक्तिशाली पम्प की नियमित होने वाली धड़कन।

परिसंचरण का सामान्य क्रम इस प्रकार हैं— हृदय ⟶ महाधमनी ⟶ धमनियां ⟶ लघुधमनियां ⟶ केशिकाएँ ⟶ लघुशिराएँ ⟶ शिराएँ ⟶ महाशिरा ⟶ हृदय।

4.3 पाचन-तंत्र

जीवन की अनिवार्य क्रियाओं के संपादन हेतु निरन्तर ऊर्जा की आवश्यकता होती है। ऊर्जा का उत्पादन करने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है। पाचन-क्रिया जिस अवयव के द्वारा होती है, उसे भोजन-प्रणाली अथवा अन्नमार्ग कहते हैं। भोजन-प्रणाली (alimentary canal) तथा कुछ अन्याय ग्रंथियां, जो अपना रस इस प्रणाली को प्रेषित करती हैं, मिलकर ''पाचन-संस्थान'' बनाती हैं। भोजन-प्रणाली का प्रारम्भ मुख से होता है और अन्त मल-द्वार में। यह सारा मार्ग नौ मीटर लम्बा होता है।

इस तंत्र के अवयव हैं—मुख और लार-ग्रंथि, अन्ननील, आमाशय, पक्वाशय, बड़ी आंत आदि।

पाचन-तंत्र के सहायक अवयव—यकृत, क्लोम-ग्रंथि (अग्न्याशय या चुस्त) (Pancreas).

4.4 अन्त:स्रावी ग्रंथि-तंत्र

अन्त:स्रावी ग्रंथियाँ (endocrine glands) नलिकाविहीन होती हैं। उनके स्राव सीधे ही रक्त-प्रवाह में छोड़े जाते हैं। वे पूरे शरीर में प्रवाहित होते हैं। और उत्पादन-स्थान से सुदूर स्थानों तक अपना कार्य कर सकते हैं। अन्त:स्रावी ग्रंथियां शरीर में बिखरी हुई पाई जाती हैं। इसके बावजूद इन सबका एक सक्षम तन्त्र बनता है, जो शरीर की अन्यान्य क्रियाओं में सम्पूर्ण संगति बिठाकर उनका सुचारू रूप से नियंत्रण करता है।

मुख्य अन्त:स्रावी ग्रंथियां ये हैं—पीनियल, पिच्यूटरी (पीयूष), थायरॉइड, पेरा-थायरॉइड, एड्रीनल (अधिवृक्क), लेंगरहांस के द्वीप तथा गोनाड्स (काम-ग्रंथियाँ)। ये सब ग्रंथियां अपेक्षाकृत काफी छोटी होती हैं। रक्त द्वारा इन्हें विपुल मात्रा में पोषक सामग्री उपलब्ध होती हैं। इन ग्रंथियों के उत्पादन जैव-रासायनिक-यौगिक (organic chemical compounds) के रूप में होते हैं। वे स्वल्प मात्रा में भी बहुत अधिक प्रभावशाली होते हैं।

4.5 विसर्जन तंत्र—गुर्दे

शरीर में उत्पन्न नाइट्रोजनीय अपशिष्ट पदार्थों का विसर्जन करने के लिए मुख्य अवयव के रूप में गुर्दे कार्य करते हैं। प्रत्येक गुर्दे में मूत्र का उत्पादन सतत् चौबीस घंटे चालू रहता है। वह बूंद-बूंद कर मूत्र-वाहिनी के माध्यम से मूत्राशय (ब्लैडर) में टपकता रहता है और संग्रहित होता है। मूत्राशय से मूत्र को बाहर निकालने के लिए एक नलिका होती है जो शरीर के बाहर एक छिद्र के द्वारा खुलती है। रक्त की सफाई और निस्यन्दन के अतिरिक्त गुर्दे रक्त की लाल कोशिकाओं के उत्पादन को बढ़ावा देते हैं। इसके अतिरिक्त वे रक्त में सोडियम व पोटेशियम, लवण, जल एवं अन्य तत्त्वों की मात्रा का नियमन करते हैं। गुर्दों के द्वारा जैविक जल-संतुलन को नियंत्रित किया जाता है। गुर्दे हमारे रक्त को अधिक अम्लीय या अत्यधिक प्रत्यम्लीय होने से बचाते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.0 शरीर प्रेक्षा : आध्यात्मिक दृष्टिकोण (Body : Spiritual Perspective)

हमारा अस्तित्व चेतन और अचेतन का जटिलतम संयोग है। चेतन है हमारी आत्मा और अचेतन है शरीर। आत्मा अरूप है, अरस है, अगंध है और अस्पर्श है। इसलिए वह अदृश्य है। वह शरीर से बंधी हुई है। इस दृष्टि से दृश्य भी है। संसारी आत्मा शरीर-मुक्त नहीं रह सकती। वह स्थूल अथवा सूक्ष्म किसी-न-किसी शरीर के आश्रित रहती है। चेतना की अभिव्यक्ति का माध यम शरीर है। आत्मा और शरीर का संबंध चिर-पुरातन है। जैन सिद्धांत की भाषा में अनादि है।

''सुख-दु:खानुभवसाधनम् शरीरम्''—जिसके द्वारा पौद्गलिक सुख-दु:ख का अनुभव किया जाता है, वह शरीर है। जीवन की जितनी प्रवृत्तियां होती हैं, वे सब शरीर के माध्यम से ही होती हैं। शरीर से सामान्यत: हमारा तात्पर्य इस अस्थि-मांस-युक्त स्थूल शरीर से ही समझा जाता है जिसे ''फिजिकल बाडी'' कहा जाता है। पर फिजिकल बाडी के सिवाय भी कुछ ऐसे शरीर होते हैं जिनसे हम परिचित नहीं हैं। यहां हम अपने अभिन्न मित्र शरीर से परिचित होने का प्रयास करेंगे। शरीर प्राण से संचालित होता है। अत: प्राण को समझना भी समीचीन होगा।

5.1 प्राण

शरीर प्राण से संचालित होता है। शरीर और प्राण का विशेष संबंध है क्योंकि यह जीवनी शक्ति है। शरीर में प्राण का एक नहीं अपितु कई प्रवाह हैं। हृदय में प्राण का प्रवाह है, नासाग्र में प्राण का प्रवाह है, त्वचा आदि में प्राण का प्रवाह है। केवल शरीर को स्थूल रूप से जानना ही पर्याप्त नहीं है वरन् इसकी सूक्ष्म संरचना को समझना भी आवश्यक है। जैन दर्शन के अनुसार शरीर में प्राण के दस प्रकार हैं। पांच प्राण इंद्रियों को बल प्रदान करते हैं तो तीन प्राण मन, वचन और काया को बल प्रदान करते हैं। एक प्राण श्वास-प्रश्वास के रूप में क्रिया करता रहता है तो एक जीवित रखने की शक्ति आयुष्य प्राण है। आयुष्य प्राण होने तक जीवन का प्रवाह चलता रहता है।

5.2 औदारिक शरीर

जैन आगमों में हमारा शरीर तीन प्रकार का बताया गया है—औदारिक, तैजस और कार्मण। औदारिक शरीर में हमारा अस्थि-पंजर, हमारी मांसपेशियाँ तथा शरीर-विज्ञान द्वारा व्याख्यायित सभी तंत्र जैसे पाचन-तंत्र, श्वसन-तंत्र, परिसंचरण-तंत्र आदि तथा पांचों इन्द्रियाँ—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय एवं मन आ जाते हैं। पांचों इन्द्रियां और मन को भोगोन्मुख या योगोन्मुख करना, यह स्वयं व्यक्ति पर निर्भर है। शरीर-प्रेक्षा का एक कार्य इन्द्रिय-संयम का विकास भी है।

अध्यात्म में इन्द्रिय-संयम एवं मन:-संयम पर बल दिया गया है। चेतना इन्द्रियों और मन के मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों के प्रति क्रमश: आसक्ति और घृणा अभिव्यक्त करती है। ये दोनों ही बंधन के हेतु हो। वास्तव में इन्द्रियों एवं मन का काम आसक्ति और घृणा नहीं है बल्कि केवल जानना बिना आसक्ति और घृणा किए जानना है। यही शरीर-प्रेक्षा का लक्ष्य है। प्रमाद से मुक्त होना और जागरूक होकर शरीर का उपयोग करना शरीर-प्रेक्षा का आध्यात्मिक पक्ष है।

जैन आगम उत्तराध्ययन में विभिन्न उपमाओं के द्वारा इन्द्रिय-विषयों और भावों में अत्यन्त आसक्त या द्विष्ट होने वाले व्यक्ति की दुर्दशा का मार्मिक चित्रण किया गया है। वहां बताया गया है—''जो मनोज्ञ रूपों, शब्दों, गन्धों, रसों, स्पर्शों और भावों में तीव्र आसक्ति करता है, वह वैसे ही अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे प्रकाश-लोलुप पतंग रूप में आसक्त होकर, अतृप्त बना हुआ रागातुर हरिन शब्द में मुग्ध होकर, बिल से निकला हुआ सर्प-नाग-दमनी आदि औषधियों के गन्ध में गृद्ध होकर, मांस के रसास्वाद में आसक्त बना रागातुर मत्स्य कांटे से बींधकर, घड़ियाल के द्वारा पकड़ा हुआ भैंसा अरण्य-जलाशय के शीतल जल के स्पर्श में मग्न होकर तथा हथिनी के प्रति आकृष्ट हाथी कामगुणों (भावों) में आसक्त होकर विनाश को प्राप्त होते हैं।

5.3 तैजस शरीर

तैजस शरीर वह सूक्ष्म शरीर है जो पूरे स्थूल शरीर में फैला हुआ होता है और पूरे शरीर को ऊर्जा देता है। शरीर-विज्ञान के अनुसार हर कोशिका में ऊर्जा का निर्माण होता है और अध्यात्म के अनुसार चेतना के असंख्य प्रदेशों में प्राण व्याप्त है। तैजस शरीर की अग्नि मन्दता का हेतु है। अग्नि की मंदता से प्रत्येक प्रवृत्ति बलहीन हो जाती है। तैजस शरीर के दो मुख्य कार्य हैं—1. शरीर तंत्र का संचालन एवं 2. अनुग्रह-निग्रह की क्षमता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हमारी जीवनी-शक्ति का आधार प्राण-तत्त्व तैजस शरीर से ही प्रवाहित होता है। यह ऊर्जामय शरीर है। इसे योग के आचार्य प्राणमय कोश तथा वैज्ञानिक 'वाइटल बॉडी' या 'इलेक्ट्रीकल प्लाज्मा' कहते हैं। सीधी भाषा में कहें तो यह विद्युतीय शरीर है। यह ऊर्जा का अपार भण्डार है। मंत्र-जप, प्राणायाम और दीर्घ श्वास के अभ्यास से तैजस-शरीर को प्रभावित कर उसमें छिपी अनन्त शक्ति को उजागर किया जा सकता है। विचार-तंत्र और आभामण्डल को प्रभावित किया जा सकता है।

5.4 कार्मण शरीर

कार्मण शरीर सूक्ष्मतम माना गया हे। अध्यात्म के अनुसार ज्ञान, दृष्टि, संवेदनशीलता, आसक्ति, शरीर-सौष्ठव, बाह्य-परिवेश, विघ्न-बाधाएँ और जीवन की अवधि आदि सभी का निर्धारण कार्मण शरीर से होता है। इसका शरीर-विज्ञान में संवादी-तंत्र है अन्त:स्रावी ग्रंथि-तंत्र। इस प्रकार प्रतीत होता है कि ग्रंथि-तंत्र के स्रावों और कर्मस्रावों में समानता है। हमारी कोशिकाओं में स्थित गुण-सूत्र (chromosomes) और जीन्स (genes) ग्रंथियों को प्रभावित करने वाले हैं। कर्मशास्त्रीय दृष्टि से नाम-कर्म और गुण-सूत्र व जीन्स में बहुत ही साम्य नजर आता है।

शरीर-प्रेक्षा द्वारा प्रत्येक कोशिका की प्रेक्षा करके हम न सिर्फ हमारी ऊर्जा के व्यय को रोकते हैं बल्कि कार्मण शरीर को प्रभावित करते हैं। पहले हम गहराई तक भीतर चित्त को ले जाकर औदारिक शरीर को देखते हैं। हमें जिन स्पन्दनों का अनुभव होता है, वे होते हैं परिवहन-तन्त्र के और रासायनिक परिवर्तनों के। जब और गहराई में जाते हैं तक हम कोशिकाओं के भीतर ऊर्जा का अनुभव करते हैं। गुणसूत्र और जीन्स के कार्यों के प्रभाव हमारे अनुभव में आते हैं। शरीर-प्रेक्षा में हमारा ज्ञान और दृष्टि का आवरण हटता है। हम अपने आपको और शरीर को नये-नये पहलुओं से जानते और देखते हैं। संवेदनशीलता नई दृष्टि के साथ विकसित होती है।

बोध-प्रश्न

1. हमारे शरीर में कितनी कोशिकाएँ हैं?
2. मानव शरीर का सबसे जटिलतम तंत्र क्या है?
3. रक्त परिसंचरण का सामान्य क्रम क्या है?
4. नलिका-विहीन ग्रंथियां कौन-सी हैं?
5. अपशिष्ट पदार्थों का विसर्जन कौन-से अवयव करते हैं?

6.0 निष्पत्तियाँ

शरीर प्रेक्षा की निम्न निष्पत्तियाँ हैं—

6.1 प्राण का संतुलन

शरीर-प्रेक्षा का महत्त्वपूर्ण परिणाम है—प्राण-प्रवाह का संतुलन। शरीर-प्रेक्षा आध्यात्मिक प्रक्रिया है। साथ-साथ यह मानसिक और शारीरिक प्रक्रिया भी है। स्वास्थ्य के लिए भी बहुत बड़ी चिकित्सा है—प्राण-चिकित्सा। शरीर-प्रेक्षा करने वाला केवल आध्यात्मिक प्रयोग ही नहीं कर रहा है, साथ-साथ में प्राण-चिकित्सा का प्रयोग कर रहा है, बीमारियों की चिकित्सा भी कर रहा है।

यदि प्राण-शक्ति का संतुलन बना रहे तो कोई बीमारी नहीं हो सकती। असंतुलन ही मनुष्य को बीमार बना रहा है। कहीं प्राण ज्यादा हो गया और कहीं कम हो गया, संतुलन बिगड़ गया। पूरे शरीर में प्राण-धारा का एक संतुलन होना चाहिए। शरीर में विद्युत का प्रवाह संतुलित रहना चाहिए। वह संतुलन बिगड़ा और व्यक्ति बीमार बन गया। प्रेक्षा करने वाला पूरे शरीर को देखता है—सिरे से पैर तक देखता है देखने का मतलब है जहां चित्त जाता है, वहां प्राण जाता है। चित्त और प्राण दोनों साथ-साथ जाते हैं। चित्त केन्द्रित हुआ, प्राण को उसके साथ जाना ही होगा। प्राण चित्त का अनुचारी है, अनुगामी है। पूरे शरीर में प्राण की यात्रा होती है। जो संतुलन बिगड़ा हुआ होता है, वह संतुलन फिर ठीक हो जाता है। परिणामस्वरूप जहां चेतना पर आया हुआ आवरण दूर होता है, वहां साथ ही प्राण-शक्ति, ज्ञानतंतुओं एवं कर्म-तंतुओं के पर्याप्त उपयोग तथा मांसपेशियों व रक्तसंचार (blood circulations) क्षमता में संतुलन के माध्यम से अभीष्ट मानसिक एवं शारीरिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.2 रोग-प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास

शरीर में रोग न होने का दूसरा उपाय है — रोग-प्रतिरोध शक्ति का विकास। जब रोग-प्रतिरोधक शक्ति प्रबल होती है तब किसी भी प्रकार के रोग के कीटाणु आक्रमण नहीं कर सकते। वे आते हैं और पराजित होकर भाग जाते हैं। जिस व्यक्ति की प्रतिरोधात्मक शक्ति मजबूत है, उसे कीटाणु सताने का प्रयत्न करते हैं पर सता नहीं पाते। हम शरीर-प्रेक्षा के द्वारा रोग-प्रतिरोधक शक्ति को सक्षम बनाते हैं, उसकी एक मजबूत दीवार खड़ी करते हैं जिससे कि कोई आक्रमण न कर सके।

शरीर-प्रेक्षा की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण निष्पत्ति है — चेतना के साथ जुड़ी हुई आस्था का निर्माण। उस आस्था के आधार पर संचालित होने वाली नई आदतों का निर्माण। शरीर-प्रेक्षा उत्सर्जन-तंत्र को सक्रिय एवं सक्षम बनाए रखने में सहायक होती है जिससे शरीर का विष सहजता विसर्जित हो जाए।

शरीर-प्रेक्षा के द्वारा रक्त-संचार-तंत्र ठीक काम करने लग जाता है, रक्त-संचार में होने वाले अवरोध दूर हो जाते हो, धमनियों के अवरोध दूर होते हो। रक्त-चाप संतुलित होता है। हृदय को अतिरिक्त श्रम नहीं करना पड़ता और वह लम्बे समय तक कार्यक्षम हो सकता है।

शरीर-प्रेक्षा का प्रभाव पाचन-तंत्र पर पड़ने से आमाशय, यकृत, आंत आदि सभी अवयवों की कार्यप्रणाली ठीक चलने लगती है। इससे प्रत्येक कोशिका को पर्याप्त मात्रा में पोषक तत्त्व मिल सकते हैं। प्रत्येक मांसपेशी अपना कार्य सुचारू रूप से संचालित करने के लिए उद्यत रह सकती है। सभी उदर-संबंधी रोगों का स्वत: निवारण हो जाता है।

शरीर-प्रेक्षा का सीधा प्रभाव नाड़ी-तंत्र पर पड़ता है। हमारे मस्तिष्क और मन से संबंधित सारी गड़बड़ियां नाड़ी-तंत्र के अवरोधों और विकृतियों क कारण पैदा होती है। जब नाड़ी-तंत्र शुद्ध होता है तो सारी मानसिक बीमारियां (व्याधियां) स्वत: समाहित हो जाती हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि हमारा शरीर अनेक रहस्यों का केन्द्र तो है ही, साथ ही यह अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों को भी संपादित करता है। अत: शरीर प्रेक्षा के द्वारा इस शरीर में प्राण के संतुलन के साथ ही शरीर को स्वस्थ बनाया जा सकता है। साथ ही गहन साधना के द्वारा अनेक रहस्यों को उद्घाटित किया जा सकता है।

बोध प्रश्न

1. वस्तुनिष्ठ प्रश्न —

1. आत्म दर्शन का पहला प्रयोग क्या है?
2. कोशिका का दूसरा नाम क्या है?
3. केन्द्रीय नाड़ी तंत्र के कितने भाग हैं?
4. जैनागमों में शरीर के कितने प्रकार हैं?
5. रोग प्रतिरोधक शक्ति प्रबल होने पर क्या होता है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न —

1. शरीर प्रेक्षा का प्रयोजन स्पष्ट कीजिए।
2. शरीर प्रेक्षा की निष्पत्तियां बताइए।

3. निबंधात्मक प्रश्न —

1. शरीर प्रेक्षा का वैज्ञानिक और आधार स्पष्ट कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–5 (क) पाठ–9 चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
2.0 भूमिका
3.0 प्रयोजन
4.0 वैज्ञानिक दृष्टिकोण
5.0 आध्यात्मिक दृष्टिकोण
6.0 निष्पत्ति

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ के द्वारा निम्न उद्देश्यों को पूरा किया जा सकता है—

1. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा के प्रयोजन को समझा जा सकेगा।
2. चैतन्य केन्द्र प्रेक्ष के वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक पक्ष को समझा जा सकेगा।
3. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा की निष्पत्तियों को समझा जा सकेगा।

2.0 भूमिका

भगवान महावीर ने आचारांग में कहा है—'अणेगचित्तं खलु अयं पुरिसे'। अर्थात् पुरुष अनेक चित्त वाला है या फिर यों कहें कि चित्त की वृत्तियां अनेक होने के कारण चित्त भी अनेक होते हैं। ये वृत्तियां हमारे व्यक्तित्व का निर्धारण करती है। हमारे व्यक्तित्व के दो प्रकार हैं—स्थूल एवं सूक्ष्म या बाह्य और आंतरिक। इन दोनों को संचालित करने का कार्य चैतन्य के द्वारा होता है। जो चेतना स्थूल व्यक्तित्व का संचालन करती है, उसको स्थूल चित्त कहा जाता है। स्थूल व्यक्तित्व के अतिरिक्त हमारा आंतरिक व्यक्तित्व भी महत्त्वपूर्ण है। यह हमारे बाह्य व्यक्तित्व से भिन्न है। इसकी हर प्रवृत्ति सूक्ष्म होती है, जिसका भी संचालन चेतना के द्वारा होता है। इसे अध्यवसाय भी कहा जाता है। इस तरह आंतरिक एवं बाह्य व्यक्तित्व इन दोनों के बीच एक सेतु है, उसे लेश्याभाव कहते हैं, जो आंतरिक व्यक्तित्व में घटित होने वाले प्रकंपनों को उसी रूप में स्थूल शरीर तक पहुंचाता है।

इस प्रकार एक ही चेतना क्षेत्र भेद और कार्य–भेद के कारण तीन भागों में विभक्त हो जाती है—अध्यवसाय, लेश्या एवं चित्त। ये सब एक चेतना के विभाग हैं। इनमें चेतना अलग नहीं है। वैसे तो हमारे शरीर में चेतना सर्वत्र व्यापक है किन्तु सघन रूप से चेतना कुछ विशिष्ट स्थानों पर रहती है जिनको शरीर विज्ञान की भाषा में ग्रंथियां एवं अध्यात्म विज्ञान की भाषा में चैतन्य केन्द्र कहा जाता है। ये केन्द्र अपने आप में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन केन्द्रों की प्रेक्षा द्वारा अनेक परिवर्तनों को घटित किया जा सकता है।

3.0 प्रयोजन

चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा के अनेक प्रयोजन हैं लेकिन प्रस्तुत पाठ में कुछ मुख्य प्रयोजनों पर चर्चा की गई है जो इस प्रकार है—

3.1 विवेक चेतना का विकास

प्रत्येक मनुष्य में विवेक चेतना अन्तर्निहित होती है। इसका जागरण नहीं होता, तब तक मनुष्य अपने चेतन मन के द्वारा केवल बुद्धि और तर्क के आधार पर ही अपनी वृत्तियों की मांग पर विमर्श करता है। उसमें विवेक चेतना को प्रयोग में नहीं लाता। वस्तुतः उसकी बौद्धिक और तार्किक–शक्ति पर वृत्तियां इतनी अधिक हावी हो जाती है कि वह उनकी मांग के औचित्य–अनौचित्य का सही निर्णय करने में सक्षम नहीं होता। ऐसी स्थिति में उसका चेतन मन वृत्तियों की मांग को उचित ठहराने हेतु कोई–न–कोई तर्क या युक्ति ढूंढ निकालता है। इसलिए अपनी मौलिक मनोवृत्तियों के प्रेरक बलों पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य के उस विलक्षण वैशिष्ट्य को उजागर किया जाए जिसे ''विवेचन चेतना'' और ''विवेकपूर्ण तर्क'' कहा जाता है और अन्त में शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक सभी प्रवृत्तियों पर विवेक चेतना का पूर्ण नियंत्रण स्थापित किया जाए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.2 अन्त:स्रावी ग्रंथि तंत्र का संतुलन

वृत्तियों के आवेगात्मक बलों के उद्दीपन या शमन करने की मूलभूत चाबी है—अन्त:स्रावी ग्रंथियां। इसलिए ये ही चैतन्य केन्द्रों के संवादी केन्द्र हैं। अन्त:स्रावी तंत्र का असंतुलन मस्तिष्क को प्रभावित करता है और चिन्तनधारा को दूषित या विकृत बनाता है। उदाहरणत: गोनाड्स की अधिक सक्रियता मन को विषय वासना या भय के चिंतन में लगाए रखेगी। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का अभ्यास अन्त:स्रावी तंत्र के संतुलन को पुन: स्थापित कर, व्यक्ति की विवेक चेतना के विकास द्वारा चेतन मन की सम्यक् चिंतन शक्ति को प्रबल बना सकता है और मौलिक मनोवृत्तियों के आवेगों को क्षीण कर सकता है।

3.3 अवचेतन मन से सम्पर्क एवं व्यक्तित्व का रूपान्तरण

हमारे शरीर में जितनी भी ग्रंथियां हैं, वे सब अवचेतन मन हैं। यह मस्तिष्क को भी प्रभावित करती है इसलिए मस्तिष्क से भी अधिक मूल्यवान है। इन्हें हमें जागृत करना है। यदि इन्हें सही साधनों के द्वारा जागृत करते हैं तो भय से मुक्ति मिलती है। भय से मुक्ति होने का अर्थ है—सारी बाधाओं से मुक्त होना। हम चैतन्य केन्द्रों पर ध्यान करें। वे संतुलित होंगे। ज्यों-ज्यों हम उन केन्द्रों पर अधिक केन्द्रित होंगे, वे और संतुलित होते जाएंगे। उनके संतुलन से भय समाप्त होगा, आवेग समाप्त होंगे, सारी बाधाएँ समाप्त होंगी, एक नया आयाम खुलेगा, नया आनन्द, नई स्फूर्ति, नया उल्लास प्राप्त होगा।

मनोविज्ञान मानता है कि जो बात हमारे स्थूल मन तक पहुंचती है, वह कारगर नहीं होती। उससे व्यक्ति का परिवर्तन नहीं हो सकता, तरंगातीत अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। जब हम दर्शन केन्द्र पर ध्यान करते हैं तब हमारा विचार, हमारा संकल्प अन्तर्मन तक पहुंच जाता है। वह संकल्प लेश्या तंत्र और अध्यावसाय तंत्र तक पहुंच जाता है। तरंगातीत अवस्था प्राप्त होती है, परिवर्तन घटित होने लगता है।

4.0 चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का आध्यात्मिक दृष्टिकोण

चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा के आध्यात्मिक दृष्टिकोण निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझा जा सकता है—

4.1 हमारा द्वैतात्मक अस्तित्व

आत्मवादी दर्शन हमें इस सत्य की अनुभूति कराता है कि हमारा अस्तित्व द्वैतात्मक है—दो तत्त्वों का संयोग है। एक है—चेतन तत्त्व—जीव, दूसरा है—अचेतन तत्त्व—शरीर। द्वैत तब तक बना रहता है, जब तक चेतना का विशुद्धतम स्वरूप उपलब्ध नहीं हो जाता है। द्वैतात्मक स्थिति में हमारे अभौतिक चैतन्यमय तत्त्व (आत्मा) को अपने सुख-दु:ख के संवेदन के लिए तथा क्रियात्मक प्रवृत्ति के लिए एक स्थूल शरीर से ही काम नहीं चलता अपितु सूक्ष्म शरीरों की अपेक्षा भी बनी रहती है। हमारे व्यक्तित्व की व्यूहरचना बहुत जटिल है। रचनाक्रम इस प्रकार बनता है—सम्पूर्ण व्यक्तित्व के केन्द्र में है—चैतन्य तत्त्व—द्रव्य आत्मा या मूल आत्मा। उस केन्द्र से बाहर परिधि में अतिसूक्ष्म शरीर यानी कार्मण शरीर है जो कषाय के वलय को पैदा करता है। केन्द्र से चैतन्य तत्त्व के जो स्पन्दन निकलते हैं, वे कषायतंत्र को पार कर बाहर आते हैं। वह है—अध्यवसाय का तंत्र। यह स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर—तैजस् शरीर के साथ सक्रिय होकर काम करता है।

इस प्रकार हमारे मौलिक मनोवेगों, पाशवी आवेगों एवं कामुकता पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए जो हमारे विवेक और प्रज्ञा को जगाता है और हमें उन पर प्रभुत्व प्राप्त करने की क्षमता प्रदान करता है, वह हमारी सूक्ष्म चैतन्यशील आत्मा ही है।

4.2 आयुर्वेद और एक्यूपंक्चर

'भगवती सूत्र' में बतलाया गया है—'सव्वेणं सव्वे' हमारी चेतना के असंख्य प्रदेश हैं। वे सब चैतन्य केन्द्र हैं किन्तु कुछ स्थान ऐसे हैं, जहां चैतन्य दूसरे स्थानों की अपेक्षा अधिक सघन होता है। विज्ञान की भाषा में हमारा पूरा शरीर विद्युत-चुम्बकीय क्षेत्र है किन्तु कुछ विशेष स्थानों में विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता अन्य स्थानों की तुलना में अनेक गुनी अधिक होती है। हमारा मस्तिष्क, इन्द्रियां, अन्त:स्रावी ग्रंथियां ऐसे केन्द्र हैं। आयुर्वेद की भाषा में इन चैतन्य केन्द्रों को 'मर्मस्थान' कहा गया है। आयुर्वेदाचार्यों ने ऐसे 105, 107 मर्मस्थान बताए हैं। इन मर्मस्थानों में प्राणों का केन्द्रीकरण होता है। ये रहस्य के स्थान हैं। यहां चेतना विशेष प्रकार से अभिव्यक्त होती है। प्रेक्षाध्यान के चैतन्य केन्द्र और आयुर्वेद के मर्मस्थानों में स्थान की दृष्टि से और महत्त्व की दृष्टि से अद्भुत समानता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एक्युपंक्चर के चिकित्सकों ने हमारे शरीर में ऐसे 700 से अधिक केन्द्र खोज निकाले हैं जिन्हें सूई द्वारा उत्तेजित करने पर अनेक प्रकार के रोगों की चिकित्सा की जाती है। अनेक असाध्य रोगों का उपचार किया जाता है। एक्यूपंक्चर और एक्यूप्रेशर में माना गया है—जो केन्द्र हमारे मस्तिष्क में हैं, वे हमारे अंगूठे में भी हैं। ये केन्द्र एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार मर्मस्थान, एक्यूपंक्चर के पोइंट्स, अन्तःस्रावी ग्रंथियां—ये सब चैतन्य केन्द्र से सम्बद्ध और प्रभावित हैं।

चैतन्य केन्द्र सब अवयवों में सक्रियता पैदा करने वाले हैं। ये इन्द्रियों को भी संचालित करते हैं और मन को भी संचालित करते हैं। उनकी क्रियाओं को संतुलित करना साधना का मुख्य अंग है। यह कार्य चैतन्य केन्द्र की प्रेक्षा द्वारा किया जा सकता है।

4.3 ज्ञान केन्द्र और काम केन्द्र

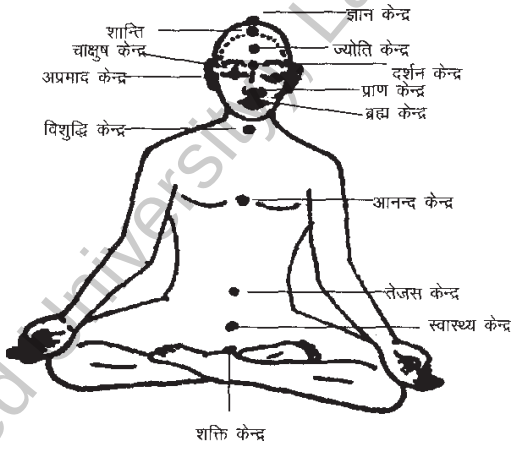

चैतन्य केन्द्र

हम इस दृश्य शरीर को दो मुख्य केन्द्रों में विभाजित कर सकते हैं—ज्ञानकेन्द्र और कामकेन्द्र। नाभि से ऊपर मस्तिष्क तक का स्थान ज्ञानकेन्द्र है—चेतना केन्द्र है और नाभि से नीचे का स्थान कामकेन्द्र है। हमारी चेतना इन दो वृत्तियों के आसपास उलझी रहती है। जहां चेतना ज्यादा उलझी रहती है, वहां चेतना का प्रवाह भी अधिक हो जाता है। ऊर्जा का मुख्य केन्द्र कामकेन्द्र है। सारी चेतना इसी के आसपास बिखरी हुई है। नाभि और जननेन्द्रिय के आस-पास मनुष्य की चेतना और ऊर्जा बिखरी पड़ी है। ज्ञानकेन्द्र में ऊर्जा बहुत कम है क्योंकि आज के मनुष्य की मौलिक वृत्ति है—'काम' और इसलिए उसकी सारी चेतना, सारी ऊर्जा वहीं सिमटी पड़ी है। उसका ध्यान उधर ही ज्यादा जाता है। मानसशास्त्री कहते हैं—''मनुष्य में काम का जितना तनाव होता है, उतना और किसी वृत्ति का नहीं होता। भय का तनाव कभी-कभी होता है, क्रोध का तनाव कभी-कभी होता है। ईर्ष्या और मान का तनाव कभी-कभी होता है। इसी प्रकार अन्य आवेगों का तनाव भी कभी-कभी होता है किन्तु काम का तनाव सबसे ज्यादा होता है, सघन होता है। उसकी जड़ें बहुत गहरे में हैं।'' हमारी प्रत्येक वृत्ति और उसकी अभिव्यक्ति का केन्द्र इसी स्थूल शरीर में है। जब चेतना काम-केन्द्र पर रहती है, तब इष्ट का वियोग होने पर व्याकुलता उत्पन्न होती है। अनिष्ट का संयोग होने पर क्षोभ पैदा होता है, प्रियता, अप्रियता की अनुभूतियां उत्पन्न होती हैं। वेदना के आने पर व्याकुलता, वेदना को नष्ट करने की चेष्टाएँ, क्रूरता, ईर्ष्या, घृणा आदि के स्पन्दन कामकेन्द्रों के आस-पास अनुभूत होते हैं। वे यहीं उभरते हैं। हमारे कामकेन्द्र की चेतना के आस-पास ही वे स्पन्दन क्रियान्वित होते हैं।

4.4 चरित्र का विकास

मन चेतना का आंतरिक स्तर नहीं है। चेतना का आंतरिक स्तर है—आवेग, क्रोध, मान, ईर्ष्या, लालच आदि। हमारी वृत्तियां चेतना का आंतरिक स्तर है। बीमारियां वहां आती हैं। चरित्र भी वहीं से आता है। मस्तिष्क से चरित्र नहीं आता। चरित्र आता है—वृत्तियों से और वे आती हैं, ग्रंथि तंत्र से। ग्रंथियों का स्थान मस्तिष्क नहीं है। आज तक यही माना जाता था कि मस्तिष्क हमारे शरीर का मुख्य अवयव है। इसी प्रकार हृदय और गुर्दे भी महत्त्वपूर्ण अवयव माने जाते थे। किन्तु अब शरीर-शास्त्रीय नए आविष्कारों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अवयव है, हमारा ग्रंथितंत्र—डक्ट्लेस ग्लैण्ड्स। आवेग, आवेश और भ्रष्ट आचरण—इन सबका निमित्त है, ग्रंथि तंत्र। ग्रंथि तंत्र को प्रभावित किये बिना आदमी को सच्चरित्र-प्रमाणित नहीं बनाया जा सकता। भ्रष्टाचार को समाप्त करने और जीवन में सच्चाई लाने के लिए ग्रंथितंत्र को प्रभावित करना होगा। आदमी उपदेशों से सच्चरित्र नहीं होता, जितना वह ग्रंथि तंत्र के स्रावों के बदलने से होता है। यह तथ्य आज अनुभव-सिद्ध हो चुका है। यह नियम 35 प्रतिशत लोगों पर लागू होता है। कुछेक व्यक्ति, जिनकी चेतना अत्यन्त प्रबुद्ध होती है, वे इसके अपवाद हो सकते हैं। सामान्य रूप से तो यही नियम है कि ग्रंथितंत्र को बदले बिना आदमी को नहीं बदला जा सकता।

4.5 कर्मशास्त्रीय व्याख्या

कर्म का प्रेरणास्रोत है—वृत्ति। वृत्ति से प्रेरित होकर ही मनुष्य और पशु कर्म करते हैं। वृत्तियां अनेक हैं—आहार की वृत्ति, भय की वृत्ति, काम और परिग्रह की वृत्ति, क्रोध और मान की वृत्ति, माया और लोभ की वृत्ति। इन वृत्तियों से प्रेरित होकर ही प्राणी कर्म करता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है। प्रत्येक कर्म के पीछे इनमें से किसी एक या अधिक वृत्तियों को प्रेरणा मिलेगी। वृत्ति से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से पुनरावृत्ति—यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। वृत्ति जागी, प्रवृत्ति हुई। हाथ से चांटा मारने के पीछे जो हमारी क्रोध की वृत्ति है, उसका शोधन करना है, हाथ का क्या शोधन होता है? हाथ चलता ही रहेगा। चांटे मारने में हाथ नहीं चलेगा तो वह प्रणाम करने में चलेगा, भोजन करने में चलेगा। हाथ का शोधन नहीं करना है। कर्म अकर्म तब बनता है जब वृत्ति का शोधन हो। कर्म के साधनों का शोधन नहीं होता, कर्म की प्रेरणा का शोधन हो सकता है पर कर्म की प्रेरणा का शोधन केवल मनुष्य ही कर सकता है, पशु नहीं कर सकता। यही मनुष्य और पशु के बीच की भेद-रेखा है। आदमी और पशु की परिभाषा हम इन शब्दों में कर सकते हैं कि जो वृत्ति का शोधन नहीं कर सकता, वह होता है पशु। पशु की पशुता चलती रहेगी। इसलिए कि उसमें वृत्ति-परिष्कार की कोई संभावना नहीं है। मनुष्य पशुता से ऊपर उठ सकता है क्योंकि उसमें वृत्ति-परिष्कार की क्षमता है आज के शरीर शास्त्रियों ने अवस्थित ग्रंथियों के विषय में बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया है। बौना होना, लम्बा होना, सुन्दर या असुन्दर होना, स्वस्थ या बीमार होना, बुद्धिमान या बुद्धिशून्य होना—सब इन ग्रंथियों के स्राव पर निर्भर करता है। स्राव इन सबको नियंत्रित करते हैं। इस तथ्य को हम कर्मशास्त्रीय भाषा में समझें।

आठ कर्मों में एक कर्म है—नाम कर्म। उसके अनेक विभाग हैं। 'संस्थान नाम कर्म' के कारण मनुष्य लम्बा या बौना होता है। इस प्रकार सुन्दर-असुन्दर, सुस्वर वाला या दु:स्वर वाला आदि नाम कर्म की विभिन्न प्रकृतियों के कारण होते हैं। नाम कर्म का सूक्ष्म अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि हमारे शरीर का सारा निर्माण नाम कर्म के आधार पर होता है। उपरोक्त कर्मशास्त्रीय विश्लेषण और शरीरशास्त्रीय विश्लेषण को मिलाकर देखें। दोनों में भाषा का अन्तर है, तथ्य का नहीं। शरीरशास्त्री 'हार्मोन्स', 'सिक्रिशन्स ऑफ ग्लैण्ड्स', 'ग्रंथियों का स्राव' कहते हैं। कर्मशास्त्री 'कर्मों का रसविपाक', 'अनुभाग बन्ध' कहते हैं।

4.6 योगशास्त्र और शरीरशास्त्र

हमारे शरीर में ग्रंथियां हैं, चक्र हैं, कमल हैं। कमल जैसी चीज नहीं मिली तो डॉक्टरों ने कहा—हमने सारे शरीर को चीरफाड़ कर देख डाला, अणु-अणु का विश्लेषण कर दिया, पर कहीं भी कमल नहीं मिला, कहीं चक्र दिखाई नहीं दिए। हाँ, डॉक्टरों को कुछ भी नहीं मिला। नाभि कमल हो या न हो, आज्ञा चक्र हो या न हो, विशुद्धि केन्द्र हो या न हो किन्तु जो पिनियल, पिच्यूटरी, थायरॉयट आदि ग्रंथियां हैं, ग्लैण्ड्स हैं, उनको यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो योगशास्त्र और शरीरशास्त्र के प्रतिपादन में कोई विशेष भेद प्रतीत नहीं होगा।

5.0 चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का वैज्ञानिक स्वरूप

प्रकृति में अस्तित्व रखने वाले हर प्राणी का जीवन शरीर की सत्ता से है। शरीर की क्रियाओं का संचालन जीवन को जीवन्त बना देता है। अब प्रश्न उठता है कि शरीर की क्रियाओं का संचालन कहां से होता है? तब हमारा ध्यान मात्र शरीर तक ही सीमित रह जाता है क्योंकि शरीर बिना किसी बाह्य माध्यम का सहारा लिए भी गतिशील रहता है। शरीर के अंदर ही कुछ ऐसा है जो इसे गतिशील रखता है वह है हमारे शरीर की तंत्र व्यवस्था। शरीर में विद्यमान अनेक तंत्र विविध कार्यकलापों को निष्पादित करते हैं। एक ही प्रकार के कार्यों की श्रृंखला को निष्पादित करने वाले अनेक अवयवों के समूह को तंत्र कहा जाता है। हमारे शरीर में अनेक तंत्र पाए जाते हैं, जिनमें नाड़ी तंत्र और अंत:स्रावी ग्रंथि तंत्र शरीर के प्रमुख नियंत्रण एवं संयोजक तंत्र हैं। ये शरीर के शेष तंत्रों का नियोजन एवं संयोजन करते हैं। इन दोनों तंत्रों का पारस्परिक संबंध भी अनेकों क्रियाकलापों को संपादित करता है। इन दोनों पारस्परिक अनुबंध इतना विलक्षण है कि नाड़ी तंत्र और ग्रंथि तंत्र के अवयवों को अखण्ड तंत्र के ही अंगरूप माना जाने लगा है जिसे नाड़ी-ग्रंथि तंत्र की संज्ञा दी गई है। अन्त:स्रावी ग्रंथितंत्र अपने प्रभावों का निष्पादन रासायनिक नियंत्रकों के स्रावों (हार्मोनों) के माध्यम से करता है। प्राणी की वृद्धि और विकास, काम-प्रवृत्तियां, गर्भाधान और जनन, चयापचय आदि महत्त्वपूर्ण कार्यों का नियमन करने का दायित्व इन स्रावों पर होता है। ये हार्मोन न केवल प्रत्येक शारीरिक क्रिया में भाग लेते हैं अपितु व्यक्ति की मानसिक दशाओं, स्वभाव और व्यवहार पर भी गहरा प्रभाव डालते हैं। ये हार्मोन मनुष्य के भीतरी आवेशों और आवेगों तथा वृत्तियों और वासनाओं के अत्यन्त शक्तिशाली व प्रेरक बलों को उत्पन्न करने वाले प्रमुख स्रोत हैं। वृत्तियां आदि न केवल कामनाओं को उत्पन्न करती हैं अपितु उनकी पूर्ति के अनुरूप प्रवृत्ति के लिए व्यक्ति को बाध्य करती है। प्रेम, घृणा, भय आदि भाव अन्त:स्रावी स्रोतों द्वारा जनित आवेग हैं।

वर्तमान विज्ञान की दृष्टि के अनुसार हमारे शरीर में दो प्रकार की ग्रंथियां हैं—वाहिनीयुक्त एवं वाहिनीरहित। ये वाहिनीरहित ग्रंथियाँ अन्त:स्रावी होती हैं। इन्हें 'एण्डोक्राइन ग्लैण्ड्स' कहा जाता है। पिनियल, पिच्युटरी, थायरॉयड, पेराथायरॉयड, थायमस,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एड्रीनल और गोनाड्स—ये सभी अन्त:स्रावी ग्रंथियां हैं। इसके स्राव हार्मोन कहलाते हैं। हमारी शारीरिक, मानसिक और भावात्मक प्रवृत्तियों का संचालन इन ग्रंथियों के द्वारा उत्पन्न स्रावों (हार्मोनों) के माध्यम से होता है। हमारी सभी चैतन्य क्रियाओं का संचालन इस ग्रंथितंत्र के द्वारा होता है। अत: उन ग्रंथियों को चैतन्य केन्द्र की संज्ञा दी गई है।

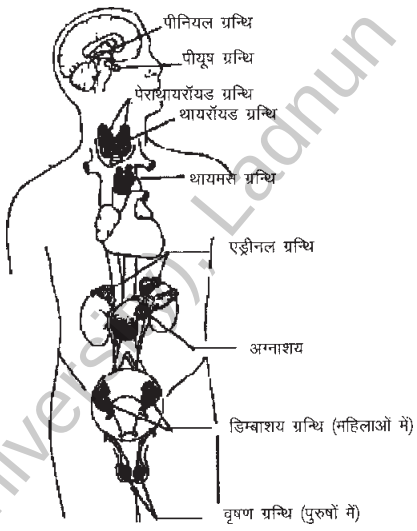

अन्त:स्रावी ग्रंथियां

5.1 अंत:स्रावी ग्रंथियों के स्थान एवं कार्य

अंत:स्रावी तंत्र की प्रत्येक ग्रंथि का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

5.1.1 पीनियल ग्रंथि

यह ग्रंथि मस्तिष्क के मध्य में स्थित होती है। इस ग्रंथि का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है गोनाड्स स्रावों को रोकना। इस प्रकार यह ग्रंथि शैशवावस्था में व्यक्ति की कामवृत्ति का नियमन कर उसे यौवन प्राप्ति तक मुक्त बनाए रखती है। यौवन प्राप्ति के बाद यह ग्रंथि यौवनोचित वयस्कता लाने में सहायक बनती है। प्रयोगों के आधार पर इस ग्रंथि के स्राव पिट्यूटरी के ए.सी.टी.एच. नामक स्राव का निरोध कर अप्रत्यक्ष रूप से एड्रीनल के स्रावों का नियमन करने में सहायक होते हैं।

5.1.2 पिट्यूटरी ग्रंथि

यह ग्रंथि मस्तिष्क के लगभग मध्य में स्थित होती है। यह ग्रंथि अनेक प्रकार के हार्मोन्स का स्राव करके जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण क्रिया-कलापों पर अपना प्रभाव डालती है। इसके प्रभाव से शरीर का कोई भी भाग अछूता नहीं है।

5.1.3 थाइराइड ग्रंथि

यह ग्रंथि स्वर यंत्र के समीप तथा श्वास नली के ऊपरी छोर पर आसीन है। इस ग्रंथि के हार्मोन को ाइराक्सीन कहा जाता है। विपुल मात्रा में आयोडीन के अतिक्ति लोहा, आर्सेनिक व फास्फोरस की कुछ मात्रा इसमें होती है। यह नाड़ियों तथा मस्तिष्क ऊतकों के निर्माण में काम आता है। यह ग्रंथि मूलत: शरीर में ऊर्जा का उत्पादन अवयव है। चयापचय की मात्रा तथा व्यक्ति में सक्रियता की तीव्रता का निर्धारण करने का मुख्य दायित्व इस ग्रंथि पर है। पाचन क्रिया में भी यह सहायक होती है। अनेक क्रिया-कलापों के अतिरिक्त यह ग्रंथि गलगंड नामक बीमारी की रोकथाम में सहायक होती है।

5.1.4 पैराथाइराइड-ग्रंथि

यह ग्रंथि थाइराइड ग्रंथि के पास स्थित होती है। इसके हार्मोन को पैराथार्मोन कहा जाता है। यह ग्रंथि शरीर में कैल्शियम की मात्रा को निश्चित करती है।

5.1.5 थाइमस ग्रंथि

यह ग्रंथि दोनों फेफड़ों के बीच में थोड़ी से ऊपर नीचे की ओर स्थित होती है। यह ग्रंथि शैशवावस्था में बच्चे के शारीरिक विकास का नियमन करती है। तथा 14 वर्ष की आयु तक इस विकास का अधिकतर क्रम समाप्त हो जाता है। यह ग्रंथि मस्तिष्क के सम्यक् विकास में सहायक होती है तथा रोग प्रतिरोधक कार्यवाही में सहायक होती है।

5.1.6 एड्रीनल ग्रंथि

इस ग्रंथि के दो भाग हैं-कार्टेक्स एवं मेडुला। इनके स्राव शरीर की स्नायविक एवं मासपेशीय संरचना में सहायक हाते हैं साथ ही अनुकंपी तंत्र से भी गहरा संबंध रखते हैं।

5.1.7 गोनाड्स

गोनाड्स उन हार्मोन्स का स्राव करती है जिनके द्वारा स्त्री स्त्रीत्व को प्राप्त करती है तथा पुरुष पुरुषत्व करता है। स्त्रियों में पाए जाने वाले हार्मोन्स हैं एस्ट्रोजन और प्रोजेस्टेरोन तथा पुरुषों में पाए जाने वाले हारमोन्स एंड्रोजन हैं।

आदतों का जन्म

मनुष्य की जितनी आदतें बनती हैं, उनका मूल उद्गम स्थल है—ग्रंथितंत्र। हमारे शरीर के दो नियंत्रण तंत्र है—ग्रंथितंत्र एवं तंत्रिका-तंत्र। तंत्रिका-तंत्र में हमारी सारी वृत्तियां अभिव्यक्त होती हैं, अनुभव में आती हैं और फिर व्यवहार में उतरती है किंतु

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आदतों का जन्म, आदतों की उत्पत्ति ग्रंथितंत्र में होती है, जो हमारी अन्त:स्रावी ग्रंथियां हैं, उनमें आदतें जन्म लेती हैं, वे आदतें मस्तिष्क के पास पहुंचती हैं, फिर कहीं उसका प्रकटीकरण होता है। इसीलिए इन प्रक्रियाओं के तंत्र को न्यूरोएंडोक्राइन सिस्टम से जाना गया। अर्थात् नाड़ी तंत्र एवं ग्रंथि तंत्र का संयुक्त कार्य-क्षेत्र। यह संयुक्त तंत्र अवचेतन मन का एक भाग है। यह मस्तिष्क को भी प्रभावित करता है, अर्थात् मस्तिष्क से भी अधिक मूल्यवान है। यदि इसे सही साधनों के द्वारा संतुलित करे हैं तो सभी अनिष्ट भावनाओं से मुक्ति मिलती है।

अन्त:स्रावी ग्रंथियों में नीचे की ग्रंथियां अधिवृक्क ग्रंथियां (एड्रीनल) और जनन ग्रंथियां (गोनाड्स) — ये वृत्तियां उत्पन्न होने का स्थान है। काम वासना का स्थान है — जनन ग्रंथियां (गोनाड्स) और भय, आवेश तथा बुरे भाव उत्पन्न होने का स्थान है — एड्रीनल ग्रंथियां। योगशास्त्र की भाषा ने इन्हें मणिपुर चक्र (तेजस् केन्द्र) और स्वाधिष्ठान चक्र (स्वास्थ्य केन्द्र) कहा जाता है। क्रूरता, वैर, मूर्च्छा आदि स्वास्थ्य केन्द्र में उत्पन्न उत्पन्न होते हैं और तृष्णा, ईर्ष्या, घृणा, भय, कषाय और विषाद तैजस-केन्द्र में जन्म लेते हैं। **जब हमारा मन, हमारे विचार, नाभि के नीचे के भाग में शक्तिकेन्द्र तक दौड़ते रहते हैं तब बुरी वृत्तियां उभरती हैं, बाद में आदत बन जाती है।**

दार्शनिक, वैज्ञानिक और चिकित्सक सभी एकमत से यह बात कहते हैं कि व्यक्ति की भावधाराओं और मनोदशाओं के साथ अंत:स्रावी ग्रंथियों का गहरा संबंध है। डॉ. एम. डब्ल्यू. काप लिखते हैं कि हमारे भीतर जो ग्रंथियां हैं, वे क्रोध, कलह, ईर्ष्या, भय, द्वेष आदि से विकृत बन जाती हैं। जब ये अनिष्ट भावनाएँ जागती हैं, तब एड्रिनल ग्लैण्ड को अतिरिक्त काम करना पड़ता है। वह थक जाती है। और-और ग्रंथियां भी अतिश्रम से थक कर श्लथ हो जाती हैं।'' परिणाम-स्वरूप शारीरिक और मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है इसलिए यह आवश्यक है कि हम इन आवेगों और भावनाओं पर नियंत्रण करें। आवेगों को समझदारी से समेटें तथा ग्रंथियों पर अधिक भार न आने दें। इसका उपाय है — चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा।

श्वास प्रेक्षा, शरीर प्रेक्षा और चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा — ये सब ग्रंथियों को सक्रिय और संतुलित करने के साधन हैं। हम चैतन्य केन्द्रों (ग्रंथियों) पर ध्यान करें, वे सक्रिय होंगे। ज्यों-ज्यों हमारा ध्यान हृदय (आनन्द केन्द्र) के ऊपर के चैतन्य केन्द्रों पर अधिाक केन्द्रित होगा, त्यों-त्यों वे अधिक सक्रिय होते जायेंगे। उनकी सक्रियता से भय समाप्त होगा। आवेग समाप्त होंगे और अनिष्ट भावनाएं समाप्त हो जाएंगी। एक नया आयाम खुलेगा। अत: चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा महत्त्वपूर्ण ही नहीं वास्तव में अध्यात्म-विकास का सर्वोत्तम साधन है।

बोध-प्रश्न

1. प्रत्येक व्यक्ति में कौन-सी चेतना होती है?
2. विज्ञान की दृष्टि से शरीर में कितने प्रकार की ग्रंथियां होती हैं?
3. आयुर्वेदाचार्यों ने कितने मर्म-स्थान बताये हैं?
4. कर्म का प्रेरणास्रोत क्या है?
5. पैराथाइराइड ग्रंथि के हार्मोन को क्या कहते हैं?

6.0 निष्पत्तियाँ

चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा की निम्नलिखित निष्पत्तियां हैं —

6.1 चैतन्य केन्द्र की निर्मलता

जब हम चैतन्य केन्द्रों की प्रेक्षा करते हैं, तब विद्युत् की धारा, प्राण की धारा, वहां इतनी तेज हो जाती है कि जमा हुआ मैल साफ हो जाता है और वह विद्युत-चुम्बकीय क्षेत्र शुद्ध बन जाता है। निर्मलता आ जाती है और उस निर्मलता में से चैतन्य अभिव्यक्त हो सकता है, बाहर प्रकट हो सकता है। चैतन्य केन्द्रों की प्रेक्षा से और अधिक प्राणधारा वहां इकट्ठी होती है और वे अधिक निर्मल बन जाते हैं। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का महत्त्वपूर्ण परिणाम है — चैतन्य केन्द्रों की निर्मलता।

6.2 शक्ति का जागरण

हमारे शरीर में जो शक्ति के केन्द्र हैं, उन्हें चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा द्वारा जागृत करते हैं। हम चेतना केन्द्रों की प्रेक्षा करें। हम इस सच्चाई को जान लें कि चित्त को अधिक-से-अधिक हृदय से ऊपर, कंठ से ऊपर, सिर तक रखना लाभदायक होता है। बार-बार ऐसा करें तो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हमारी वृत्तियां समाप्त हो सकती हैं, स्वभाव बदल सकता है, व्यवहार बदल सकता है और चरित्र बदल सकता है। यह बहुत बड़ा रहस्य है, व्यवहार और आचरण को बदलने का, स्वभाव और आदतों को बदलने का। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा एक प्रयोग है। प्रेक्षाध्यान में तेरह चैतन्य केन्द्र बताए गये हैं। मूलत: हमारे शरीर में नंदीसूत्र के अनुसार सैकड़ों चैतन्य केन्द्र हैं। जैसे एक दीपक का प्रकाश इस पर ढक्कन लगा देने से अवरुद्ध हो जाता है और अगर ढक्कन को जालीनुमा बना दिया जाये तो प्रकश की रश्मियां उसमें से बाहर निकलने लगेंगी। हमारी चेतना पर भी एक आवरण है ज्ञानावरण कर्म का। इस आवरण को जालीदार बनाना है, अगर ऐसा हो जाए तो फिर उसमें से हमारी ज्ञान की रश्मियां बाहर निकलने लग जाएंगी। हमारे शरीर के जितने रोम छिद्र हैं, उतने ही हमारे चैतन्य केन्द्र हो सकते हैं। शरीर का जहां भी भेदन किया जाए हमें चेतना की प्राप्ति होगी। आज विज्ञान ने यह माना है कि जिस प्रकार आंख से हम देखते हैं, वैसे ही शरीर के किसी भी भाग से देखा जा सकता है किन्तु आवश्यकता है शरीर के उस भाग पर क्रिस्टेलाइजेशन की। अगर क्रिस्टेलाइजेशन अंगुली पर किया है तो हम अंगुली से देखने लग जायेंगे। जैन आगमों में एक लब्धि है—संभिन्नस्रोतोपलब्धि। इसका अर्थ है—शरीर के हर किसी भाग से देख सकना, सुन सकना, चख सकना। व्यक्ति पांचों इन्द्रियों का काम एक अंगुली से कर सकता है, शरीर के किसी भी छोटे से अंश से कर सकता है, यदि उसका क्रिस्टेलाइजेशन हो जाये। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का अर्थ है—शरीर के किसी भी भाग को हम सक्रिय कर सकते हैं। प्राणियों के शरीर में नाभि के ऊपर के भाग के केन्द्रों के आकार प्रशस्त अच्छे बतलाए गये हैं और नाभि से नीचे के केन्द्रों के आकार अप्रशस्त बतलाये गए हैं। सामान्यत: हमारे नीचे के केन्द्र जागृत रहते हैं। यदि मनुष्य साधना करे तो ऊपर के केन्द्रों को जागृत किया जा सकता है। विशिष्ट शक्तियों को प्राप्त किया जा सकता है।

6.3 आनन्द का जागरण

इस मूर्च्छा को तोड़ने के लिए चेतना को जगाएं। चेतना को व्यापक बनाने का अर्थ है—चेतना की पदार्थ-प्रतिबद्धता को तोड़ देना। पदार्थ का उपयोग होगा किन्तु चेतना पदार्थ से प्रतिबद्ध नहीं होगी। उपयोग करना और प्रतिबद्ध होना दोनों अलग-अलग बातें हैं। रोटी खाना पदार्थ की उपयोगिता है। रोटी से बंध जाना यह उसकी प्रतिबद्धता है। जिसकी चेतना जाग जाती है, वह भी रोटी खाता है। ध्यान करने वाला साधक भी रोटी खाता है, पानी पीता है, पैसा रखता है। ये जीवन के आवश्यक उपकरण हैं। सबके लिए जरूरी है। ध्यान करने का अर्थ यह नहीं है कि भौतिक पदार्थ छूट जाए। पदार्थ का उपयोग नहीं छूटता, केवल पदार्थ की प्रतिबद्धता छूट जाती है। वह साधक पदार्थ से बंधा नहीं रहता, पदार्थ के चंगुल में फंसा नहीं रहता। चेतना के जागरण का यह मुख्य परिणाम है। उसमें पदार्थ की उपयोगिता शेष रहती है। प्रतिबद्धता समाप्त हो जाती है। समस्या का मूल प्रतिबद्धता है, उपयोगिता नहीं।

जब तैजस् लेश्या के स्पन्दन जागते हैं, तब व्यक्ति को अनिर्वचनीय आनन्दानुभूति होती है। उन आनन्द का प्रत्यक्ष अनुभव करने वाला ही उसे जान सकता है, वह उसे बता नहीं सकता। जिस व्यक्ति ने तैजस् लेश्या का कभी प्रयोग नहीं किया, ध्यान नहीं किया, वह व्यक्ति इस स्थूल शरीर से परे भी कोई आनन्द होता है। इन विषयों से परे भी कोई सुखानुभूति है, नहीं समझ पाता, कल्पना भी नहीं कर पाता। जब तक प्रयोग से नहीं गुजरता है, तब तक उसे ज्ञात ही नहीं होता कि ऐसा अनिर्वचनीय सुख भी हो सकता है, जिस सुख का अनुभव होता है, वह अपूर्व होता है। व्यक्ति सोचता है—मैंने मान रखा था कि सुख तो पदार्थ से ही मिलता है किन्तु आज यह स्पष्ट अनुभव हो रहा है कि जैसा सुख तैजस् लेश्या के स्पन्दनों के जागने पर होता है, वैसा सुख जीवन में किसी भी पदार्थ से नहीं मिल सकात। भ्रांति टूट जाती है, धारणाएँ बदल जाती हैं।

बोध प्रश्न

1. वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

1. व्यक्तित्व के कितने प्रकार हैं?
2. शरीर में कितने नियंत्रण तंत्र हैं?
3. ऊर्जा का मुख्य केन्द्र कौन-सा है?
4. पिट्युटरी ग्रंथि कहां स्थित है?
5. एड्रिनल ग्रंथि के कितने भाग हैं?

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

1. चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा का प्रयोजन क्या है?
2. चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा की निष्पत्तियां क्या हैं?

3. निबंधात्मक प्रश्न—

1. चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा का आध्यात्मिक-वैज्ञानिक दृष्टिकोण बताइये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–5 (ख) लेश्याध्यान

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
2.0 भूमिका
3.0 लेश्या : एक परिचय
4.0 प्रयोजन
5.0 वैज्ञानिक दृष्टिकोण
6.0 आध्यात्मिक दृष्टिकोण
7.0 निष्पत्ति

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ के द्वारा निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है—

1. लेश्या के परिचय प्राप्त किया जा सकेगा।
2. लेश्याध्यान के प्रयोजन को समझा जा सकेगा।
3. लेश्याध्यान के वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक पक्ष को समझा जा सकेगा।
4. लेश्याध्यान की निष्पत्तियों को समझा जा सकेगा।

2.0 भूमिका

लेश्या का संबंध भावों से होता है। भाव अच्छे और बुरे दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। अच्छे भावों के आधार पर अच्छी लेश्या और बुरे भावों के आधार पर बुरी लेश्या का निर्माण होता है। अत: भावों के आधार पर ही व्यक्ति का व्यवहार बनता है। अत: भाव परिष्कार लेश्याध्यान का प्रमुख कार्य है। लेश्याध्यान रंगों का ध्यान है। रंग हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। रंगों के द्वारा भावों को बदला जा सकता है तो भाव परिष्कार के द्वारा आभामंडल के रंगों को बदला जा सकता है। आभामंडल शरीर के चारों ओर एक वलय होता है जो साधारण आंखों से नहीं देखा जा सकता है। साधना के द्वारा इसे देखा जा सकता है। इस आभामंडल की विशुद्धि ही वास्तव में आतंरिक पवित्रता का द्योतक है। इसलिए लेश्याध्यान यानि रंगों के ध्यान द्वारा भाव शुद्धि और भाव शुद्धि द्वारा आभामंडल की शुद्धि का कार्य सरल हो जाता है।

3.0 लेश्या : एक परिचय

लेश्या का सिद्धांत पहले दार्शनिक जगत में चर्चित था और आज वह ओरा (Aura), आभामण्डल के नाम से वैज्ञानिक चर्चा का विषय बन चुका है। नाम बदल सकता है पर सिद्धांत नहीं। आज विज्ञान के क्षेत्र में 'ओरा' पर काफी चर्चा हो रही है। दो शब्द है—ओरा और हेलो। पूरे शरीर के चारों ओर जो वलय होता है, वह ओरा है, आभामण्डल है। जो सिर के चारों ओर मंडलाकार में होता है, वह हेलो है, भामण्डल है। महापुरुषों के सिर के पीछे जो एक ज्योतिर्मय चक्राकार मण्डल दिखाया जाता है, उसका नाम है भामण्डल। आभामण्डल और भामण्डल, ये दोनों बहुत चर्चित हो गये हैं। इनके फोटो भी लिए गए हैं। किर्लियन फोटोग्राफी इस विषय में काफी प्रसिद्ध हो चुकी है। इस क्षेत्र में और भी अनेक लोग काम कर रहे हैं।

लेश्या का सिद्धांत आज वैज्ञानिक सिद्धांत बन चुका है। कम से कम ढाई हजार वर्ष की यात्रा इस सिद्धांत ने की है। यह सिद्धांत भगवान महावीर के समय था और इसका सबसे बड़ा प्रमाण है जैन आगम—'आचारांग' सूत्र का यह शब्द—'अबहिलेस्से'। सबसे प्राचीन आगम माना जाता है—'आचारांग'। उसमें लेश्या शब्द का प्रयोग प्राप्त है। महावीर से लेकर आज तक यह लेश्या का सिद्धांत बराबर चल रहा है।

भगवान महावीर ने जिस लेश्या सिद्धांत का प्रतिपादन किया। वह दो धाराओं में चलता है—एक धारा है भाव की और दूसरी धारा है—रंग की। भाव और रंग—इन दोनों का योग, यह है लेश्या का सिद्धांत। यह अध्यात्म का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है। लेश्या को छोड़कर अध्यात्म की बात नहीं कही जा सकती। लेश्या-आभामण्डल हमारा एक दर्पण है जिसमें व्यक्ति अपने आप को देख सकता है, अपने विचारों और भावनाओं को देख सकता है, अपने आचार और व्यवहार को देख सकता है।

लेश्या का यह सिद्धांत भगवान महावीर की दार्शनिक जगत को बहुत बड़ी देन है। दर्शन और अध्यात्म जगत में इसका मूल्य सदा रहता है। आज लेश्या का सिद्धांत वैज्ञानिक जगत में प्रतिष्ठित होता जा रहा है। वह समय आने वाला है—जहां निदान करने के बहुत सारे यंत्र नाकामयाब होंगे, वहां यह आभामण्डल का सिद्धान्त और यह निदान का दर्पण अपनी शक्तिशाली भूमिका निभाने के लिए प्रस्तुत रहेगा। तीन महीने या छह महीने पहले यह घोषणा की जा सकेगी—क्या बीमारी होने वाली है? यह भी बताया जा सकेगा—कब मौत होने वाली है? यह विषय आज विकास की दिशा में गतिशील बना हुआ है और इससे कुछ नई संभावनाएँ जन्म लेने वाली हैं। ऐसा विषय ऐतिहासिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक सब दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण और माननीय है।

3.1 लेश्या : शब्द मीमांसा

लेश्या हमारी चेतना की एक रश्मि है। शब्द भी बड़ा जटिल खोजा गया—लेश्या। इस शब्द पर भी बहुत उलझनें पैदा हुई हैं। लेश्या का अर्थ किया गया है—ज्योति रश्मि। जैसे सूरज की रश्मियां होती हैं, वैसे ही हमारी चेतना की रश्मियां होती हैं। चेतना हमारे भीतर है किंतु उसकी किरणें बाहर तक फैल जाती हैं। जैन आगम शास्त्र—'नन्दी सूत्र' की चूर्णि में इस शब्द पर बहुत ध्यान दिया गया। यह शब्द है—रस्सी (रश्मि)। रस्सी से बना लस्सी और उससे बन गया—लेस्सा-लेश्या। एक समीकरण बन गया— रस्सी—लस्सी—लेस्सा=लेश्या।

3.2 लेश्या की परिभाषा

लेश्या एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण है। जीव के चारों ओर रश्मियों का आवरण है। इसकी खोज जीव और पुद्गल के सम्बन्धों का अध्ययन करते समय हुई। जीव से पुद्गल (matter) प्रभावित होते हैं और पुद्गल से जीव प्रभावित होता है। जीव को प्रभावित करने वाले पुद्गलों के अनेक वर्ग हैं। उनमें से एक वर्ग का नाम लेश्या है। उस पुद्गल वर्ग से प्रभावित होने वाले आत्म-परिणामों को भी लेश्या कहा गया है। प्राचीन शास्त्रों में लेश्या की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं, जैसे—

1. योग परिणाम—योग अर्थात् मन, वचन व काया की प्रवृत्ति के साथ संयुक्त परिणाम अर्थात् भाव।

2. कषायोदय रंजित योग प्रवृत्ति—कषाय अर्थात् भाव या संवेग के आने पर उससे रंजित योग—मन, वचन व काया की प्रवृत्ति।

3. कर्म-निष्यन्दन—अर्थात् कर्मों का प्रवाह। कर्म की एक प्रकृति है—कषाय। उसका प्रवाह।

आचार्यश्री तुलसी के अनुसार लेश्या की परिभाषा इस प्रकार है—

''योगवर्गणान्तर्गतद्रव्यसाचिव्यात् आत्मपरिणामो लेश्या।''

'योगवर्गणा के अन्तर्गत पुद्गलों की सहायता से होने वाले आत्म-परिणाम (भाव) को लेश्या कहते हैं।'

4.0 प्रयोजन (Purpose)

लेश्याध्यान के प्रयोजन को निम्न बिन्दुओं द्वारा समझा जा सकता है—

4.1 सत्य की खोज

साधक के मन में यह प्रश्न सहज उभर सकता है कि ध्यान क्यों? प्रवृत्ति को छोड़कर निवृत्ति क्यों? प्रश्न स्वाभाविक है। हम यदि प्रवृत्ति और निवृत्ति को ठीक से समझ लें तो प्रश्न समाहित हो सकता है। यदि तनिक भी भ्रांति हुई तो ध्यान के प्रति भी हम भ्रांत हो जाएंगे।

प्रवृत्ति है जीवन की नैया को खेने के लिए जीवन की यात्रा को चलाने के लिए और निवृत्ति है जीवन की सच्चाई और सत्य को पाने के लिए। जो लोग केवल प्रवृत्ति करते हैं वे जीवन की यात्रा को तो चला सकते हैं किन्तु जीवन की सच्चाई को प्राप्त नहीं कर सकते। प्रवृत्ति हमारी जीवन-यात्रा का साधन है साध्य नहीं। यदि जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति का सम्यक् संतुलन नहीं होता है तो व्यक्ति प्रवृत्ति को साध्य मानने लग जाता है और जीवन में एक बहुत बड़ी भ्रांति आ जाती है। इस भ्रांति को मिटाने के लिए सच्चाई को पाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति ध्यान का अभ्यास करे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.2 चैतन्य की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव

विज्ञान का लक्ष्य भी सत्य को पाना है जिसके लिए वह निरन्तर प्रयत्नशील है पर वैज्ञानिक खोजों के विषय केवल पदार्थ हैं, परमाणु हैं, चेतना की स्वतंत्रता सत्ता उसका विषय नहीं है। विज्ञान ने पदार्थ पर बहुत खोजें की हैं और आज भी उसकी खोज चालू है। पदार्थ के अस्तित्व के कण-कण को छाना जा रहा है। विज्ञान की खोज उपकरणों, यंत्रों और अन्य भौतिक साधनों के माध्यम से हो रही है इसलिए पदार्थ तक ही पहुंच पाएगी। आत्मा तक उसकी पहुंच नहीं हो सकती। चेतन सत्ता उसका विषय भी नहीं बनता। इसलिए वैज्ञानिक जगत ने चेतन की स्वतंत्रता सत्ता को अब तक स्वीकार नहीं किया है। उस अस्वीकार के कारण आज हमें ध्यान की उपयोगिता इतनी ही लगती है कि उससे तनाव कम होता है, शारीरिक स्वास्थ्य बना रहता है आदि। बस, ध्यान की उपयोगिता समाप्त! यह सच है कि ध्यान से स्नायविक, मानसिक और भावनात्मक तनाव कम होते हैं, स्वास्थ्य सुधरता है, रक्तचाप संतुलित होता है, किन्तु ध्यान का उद्देश्य केवल शरीर को पुष्ट और स्वस्थ करने का नहीं है। यद्यपि शारीरिक स्वास्थ्य भी कम मूल्यवान नहीं है और ध्यान का एक उद्देश्य शारीरिक स्वास्थ्य भी है, पर सबसे मूल्यवान उद्देश्य है — अपने अस्तित्त्व का बोध। जब तक व्यक्ति अपने अस्तित्व का बोध नहीं कर लेता, तब तक दु:ख को समाप्त नहीं कर सकता। दु:खों को समाप्त करने का एकमात्र साधन है — सत्य की उपलब्धि, अस्तित्व की उपलब्धि।

4.3 अन्तर्दृष्टि की जागृति

अन्तर्दृष्टि का अर्थ है — प्रियता और अप्रियता की अनुभूति से मुक्ति। जब तक हम प्रियता-अप्रियता से मुक्त नहीं होते, तब तक हमें सत्य उपलब्ध नहीं होता। हम बड़े-बड़े शास्त्रों को रट लें, तत्त्वों का पारायण कर लें, फिर भी हमें अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती। अन्तर्दृष्टि, सम्यग्दृष्टि, सम्यक्त्व, सत्य, सब एक ही हैं। ध्यान हम इसलिए कर रहे हैं कि हम अपने अस्तित्त्व को जानें, ज्ञाता को जानें, द्रष्टा को जानें, ज्ञाता-द्रष्टा, जो पर्दे के पीछे चला गया, हम उसका अनुभव करें। एक वैज्ञानिक उसे नहीं जान सकता, एक ध्यान साधक उसे जान सकता है। ध्यान के सारे नियम ज्ञाता तक पहुंचाने के लिए हैं। साधक अपने संवेदनों को शुद्ध करता चलता है, भोक्ता-स्वरूप को छोड़ता है और ज्ञाता-स्वरूप को प्राप्त करता है, जहां केवल जानने की बात आती है, वहां संवेदन शुद्ध हो जाता है, दृष्टि शुद्ध हो जाती है और ज्ञान शुद्ध हो जाता है।

4.4 व्यक्तित्व का रूपांतरण

अध्यात्म के आचार्यों ने आत्म-शोधन की प्रक्रिया को इतने सुन्दर ढंग से प्ररूपित किया है कि उसे ठीक समझकर यदि हम उसका प्रयोग करें तो व्यक्तित्व के रूपान्तरण में कोई कठिनाई नहीं होगी। लेश्या के शोधन के द्वारा जीवन में धर्म सिद्ध हो सकता है। जब कृष्ण, नील और कापोत — ये तीन लेश्याएं बदल जाती हैं और तैजस्, पद्म और शुक्ल — ये तीन लेश्याएं अवतरित होती हैं तब परिवर्तन घटित होता है।

5.0 लेश्याध्यान का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

चूंकि लेश्याध्यान का संबंध रंगों से है। अत: लेश्याध्यान के वैज्ञाानिक दृष्टिकोण को समझने के लिए रंगों को भी समझना होगा।

5.1 विश्व-विज्ञान और रंग

प्रकाश 'तरंग' के रूप में होता है और प्रकाश का रंग उसके तरंग-दैर्ध्य (wave-length) पर आधारित है। तरंग-दैर्ध्य और कंपन की आवृत्ति (frequency) परस्पर में व्यस्त प्रमाण (inverse proportion) से संबंधित है। अर्थात् तरंग-दैर्ध्य के बढ़ने के साथ कम्पन की आवृत्ति कम होती है और उसके घटने के साथ बढ़ती है। सूर्य का प्रकाश त्रिपार्श्व कांच (prism) में गुजरने पर प्रकाश-विक्षेपण के कारण सात रंगों में विभक्त होता दिखाई देता है। उस रंग-पंक्ति को वर्णपट (spectrum) कहते हैं। उनमें से लाल रंग का तरंग-दैर्ध्य सबसे अधिक और बैंगनी रंग का तरंग दैर्ध्य सबसे कम होता है। कम्पन-आवृत्ति लाल प्रकाश की सबसे कम और बैंगनी प्रकाश की सबसे अधिक होती है। दृश्य-प्रकाश में जो विभिन्न रंग दृष्टिगोचर होता है, वे विभिन्न प्रकम्पनों की आवृत्ति या तरंग-दैर्ध्य के आधार पर होते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रंग YIBGYOR	तरंग दैर्ध्य 1 $1A^0$=1000000 से.मी.	कम्पन–आवृत्ति (प्रति सैकण्ड)
लाल	7400–6200	4000–5000 खरब
नारंगी	6200–4850	5000–5400 खरब
पीला	5850–5750	5400–5500 खरब
हरा	5750–5000	5500–6000 खरब
नीला	5000–4450	6000–6600 खरब
जामुनी	4450–4350	6600–6750 खरब
बैंगनी	4350–3900	6750–7600 खरब

सूर्य से प्रसारित होने वाले प्रकाश–तरंग जब पदार्थ में होकर गुजरते हैं, तब उस पदार्थ की स्वयं की विशिष्टता के कारण एक विशेष तरंग–दैर्ध्य को छोड़कर शेष सभी उस पदार्थ के द्वारा शोषित हो जाते हैं। इस प्रकार जब दूब में से प्रकाश की तरंगें गुजरती हैं, दूब की विशिष्टता के कारण ही हरे को सूचित करने वाली तरंग–दैर्ध्य को छोड़कर शेष तरंग–दैर्ध्य वाली सभी तरंगें दूब के द्वारा शोषित (Absorbed) हो जाती हैं। हमारी आंख तक केवल वे ही तरंगें पहुंचती हैं जिनका तरंग–दैर्ध्य हरे रंग को सूचित करता है और इसीलिए हमें दूब हरी दिखाई देती है।

सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक और नोबल पुरस्कार विजेता प्रो. सी.वी. रमण ने रंग की प्रक्रिया पर गहन शोध कार्य किया है। उपरोक्त कथन की पुष्टि प्रो. रमण के इस कथन से होती है कि ''सूर्य के प्रकाश में, जो पदार्थ का रंग हमें दिखाई देता है, वह पदार्थ के ऊपर पड़ने वाली सूर्य–रश्मियों में विद्यमान समस्त प्रकाश–तरंगों में से जिस द्रव्य का पदार्थ बना हुआ है, उस द्रव्य द्वारा विसरण (diffusion) और छितराव (scattering) के पश्चात्, जो तरंगें आंख तक पहुंचती हैं तथा आंख द्वारा उनका संश्लेषण होता है, उनसे उत्पन्न होता है।''

किसी भी पदार्थ का रंग तीन बातों पर निर्भर होता है—आपतित प्रकाश की प्रकृति, पदार्थ द्वारा शोषित प्रकाश और विभिन्न रंगों की अनवशोषित प्रकाश किरणें। इन तीनों के कारण से आंख पर उत्पन्न अनुभूति ही पदार्थ का रंग है।

5.2 पारदर्शक और अपारदर्शक वस्तुएँ

जब सफेद प्रकाश किसी पारदर्शी वस्तु पर आपतित होता है तो उसका कुछ भाग वस्तु द्वारा अवशोषित हो जाता है, थोड़ी मात्रा में परावर्तित होता है पर अधिकांश संचरित (पार) हो जाता है। अपारदर्शक वस्तु पर आपतित प्रकाश का कुछ हिस्सा परावर्तित हो जाता है, कुछ उसमें प्रवेश करता है जिसका कुछ भाग वापस लौटता है और शेष भाग अवशोषित हो जाता है। अपारदर्शक वस्तु का रंग आपतित प्रकाश की प्रकृति और अवशोषित प्रकाश पर निर्भर करता है क्योंकि सभी वस्तुएँ अपने रंग के प्रकाश को छोड़कर, शेष सब रंगों की प्रकाश–किरणों को अवशोषित कर लेती हैं। नीला, पीला और लाल—ये तीनों प्राथमिक रंग कहलाते हैं। इन रंगों को उचित अनुपात में मिलाने पर दूसरे रंग प्राप्त किये जा सकते हैं जबकि अन्य रंगों को मिलाने से, ये प्राथमिक रंग प्राप्त नहीं हो सकते। जब दो रंगों को मिलाने से तीसरा रंग प्राप्त होता है, तो उन दो रंगों को एक–दूसरे का 'पूरक' रंग कहते हैं।

प्रकृति के रहस्य अधिकांशत: प्रकाश की भाषा में अंकित हैं। उनका उद्घाटन प्रकाश की सांकेतिक भाषा को समझने से हो सकता है। अणु–सिद्धांत और प्रकाश के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान के आधार पर अब यह बात सिद्ध हो चुकी है कि प्रत्येक द्रव्य या प्रत्येक प्रकार का अणु अपनी आणविक संरचना के आधार पर एक विशेष तरंग–दैर्ध्य को ही ऊर्जा के रूप में उत्सर्जित या गृहीत करता है। इसी के आधार पर प्रत्येक द्रव्य का वर्णपट में एक निश्चित स्थान होता है जो दूसरे किसी द्रव्य का नहीं होता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक प्रकार का अणु अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व को अपने विशिष्ट हस्ताक्षर द्वारा अभिव्यक्ति करने की क्षमता रखता है और यह हस्ताक्षर उसके अपने अनन्य वर्ण के रूप में होता है। दूसरे शब्दों में, यह अभिव्यक्ति उस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

द्रव्यविशेष या अणुविशेष की 'अंगुलियों की छाप' बन जाती है जो केवल उसके अपने व्यक्तित्व (संरचना-विशेष) को ही व्यक्त करती है। इसके आधार पर ज्योतिर्वैज्ञानिक अन्तरिक्ष में सुदूर आकाश-पिण्डों तक विद्यमान द्रव्यों की पहचान करते हैं। लाखों प्रकाश-वर्ष दूर रहे हुए नीहारिकाओं तथा तारों का अध्ययन करने में इससे बड़ी सहायता मिलती है। वर्णक्रम विज्ञान (स्पेक्ट्रोस्कोपी) के द्वारा प्राप्त तथ्यों के आधार पर समग्र विश्व के निर्माण एवं संरचना के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों की स्थापना हुई है। सर जोसेफ नोर्मल लोक्यर नामक वैज्ञानिक ने सूर्य-रमिश्यों के वर्णक्रम के अध्ययन से ही इस बात की खोज की थी कि सूर्य में 'हिलियम' नामक द्रव्य विद्यमान है।

5.3 रंग और मनोविज्ञान

वैज्ञानिकों के अनुसार हमारा सारा जीवन तंत्र रंगों के आधार पर चलता है। आज के मनोवैज्ञानिकों और वैज्ञानिकों ने यह खोज की है कि व्यक्ति के अन्तर्मन को, अवचेतन मन को और मस्तिष्क को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला है—रंग। रंग हमारे समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करता है।

सभी प्राणियों के स्वास्थ्य और व्यवहार पर प्रकाश और रंगों का गहरा प्रभात है। वनस्पति-जगत के लिए सूर्य का प्रकाश जीवनदाता है। मनुष्य एवं अन्य प्राणियों की शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक दशाओं तथा आचार-व्यवहार पर विभिन्न रंगों का क्या-क्या प्रभाव पड़ता है—इस विषय में प्राचीन एवं आधुनिक दोनों विज्ञानों में काफी गवेषणा की गई है। उन्नीसवीं शताब्दी के रंग-चिकित्सकों का यह दावा था कि विभिन्न रंगों के कांच या बोतलों के माध्यम से तैयार की गई औषधियों द्वारा वे सामान्य कब्जी से लेकर तंत्रिकाशोध (नाड़ी तंत्र) की कोशिकाओं पर आई हुई सोजिश (meanningitis) जैसी घातक बीमारियों तक को ठीक कर सकते हैं। उस युग में इस प्रकार के दावे चिरकाल तक प्रतिष्ठित नहीं हो सके और अन्त में बदनाम भी हुए किन्तु आधुनिक युग में इन्हें रंग-चिकित्सा या 'प्रकाश-जैविकी' (फोटोबायोलॉजी) के नाम से पुनरुज्जीवित किया गया है। अमरीका की 'मासाच्यूचेट्स इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी' के सुप्रसिद्ध पोषण वैज्ञानिक डॉ. रिचर्ज जे. वुर्टमैन के अनुसार—'शारीरिक क्रियाकलापों पर सबसे अधिक प्रभाव डालने वाले तत्त्वों में आहार के अतिरिक्त, यदि किसी का हाथ है, तो यह है प्रकश का।'

अनेक प्रयोगों द्वारा यह ज्ञात किया जा चुका है कि विभिन्न रंगों का व्यक्ति के रक्तचाप, नाड़ी और श्वसन की गति एवं मस्तिष्क के क्रियाकलापों पर तथा अन्य जैविक क्रियाओं पर विभिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ता है। इसी परिणामस्वरूप आज अनेक प्रकार की बीमारियों की चिकित्सा में विभिन्न रंगों का उपयोग किया जाने लगा है।

5.3.1 नीला और पराबैंगनी रंग

प्रतिवर्ष हजारों की संख्या मं बच्चों का निर्धारण समय से पहले प्रसव हो जाता है। ऐसे बालक प्राय: घातक पीलिया की बीमारी के शिकार हो जाते हैं। ऐसे बालकों का उपचार पहले प्राय: बाहर से रक्त चढ़ाकर किया जाता था। अब उनका उपचार रक्त-आधान के बदले नीले प्रकाश की किरणों के स्नान से किया जाने लगा है।

रूस को प्रकाश-जैविकी के क्षेत्र में अग्रगण्य माना जाता है। वहां के वैज्ञानिकों के अनुसार कोयले की खानों के मजदूर को यदि पराबैंगनी किरणों का स्नान कराया जाता है तो वे 'श्याम फुफ्फुस' (black lungs) नामक बीमारी से बच सकते हैं। श्री फाबेर बिरेन नामक एक रंग-विशेषज्ञ हैं, जिन्होंने रंग के विषय में सैकड़ों लेख एवं अनेक पुस्तकें लिखी हैं तथा जो इस विषय के अधिकृत व्यक्ति माने जाते हैं। श्री बिरेन के मतानुसार स्कूल के कमरों में बत्तियों के साथ पराबैंगनी प्रकाश वाली बत्तियों को लगाने पर विद्यार्थियों का विकास तेजी के साथ होता है, उनकी कार्यक्षमता और प्राप्तांकों में वृद्धि होती है तथा जुकाम, नजले आदि की बीमारियों की घटनाओं में कमी होती है।

5.3.2 शांतिदायक गुलाबी रंग

केलिफोर्निया (अमरीका) के सानबरमार्डिनो काउण्टी के 'प्रोबेशन विभाग' (अपराध सुधार विभाग) की स्वास्थ्य सेवा के निर्देशक श्री पौल ई. बोकुनिनी कहते हैं—'हमारे यहां कैद बाल-अपराधी, जब कभी उन्मत होकर हिंसा पर उतारू हो जाते थे तब पहले हम यातनाओं द्वारा उन पर नियंत्रण प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। अब हम उन्हें ऐसे कमरे में रखते हैं, जिसकी दीवारें एक विशेष गुलाबी रंग से रंगी हुई होती हैं। हमने पाया कि वे उद्दंड बच्चे चिल्लाना छोड़कर शिथिल और शांत होकर केवल 10 मिनट में ही निद्राधीन हो जाते हैं।' समूचे अमरीका में लगभग 1500 से अधिक अस्पतालों एवं सुधारग्रहों में कम से कम एक

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कमरा गुलाबी रंग की दीवारों वाला हाता ही है। यह गुलाबी रंग 'शांतिदायक गुलाबी रंग' के नाम से प्रसिद्ध है। यह मनुष्य की भावनाओं पर होने वाले रंग के प्रभाव का ज्वलंत उदाहरण है।

5.3.3 मन:कायिक बीमारियों पर रंगों का प्रभाव

रंग व्यक्ति की बीमारियों को कैसे और क्यों प्रभावित करते हैं? इस विषय में सभी चिकित्सक एकमत नहीं हैं। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि रंगों का प्रभाव सीधे शरीर पर न होकर मानस पर होता है। उनके मतानुसार रंगों द्वारा ऐसी मनोदशाओं का निर्माण होता है जो शरीर को स्वस्थ कर देती हैं किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि आधे से अधिक बीमारियां मन:कायिक ही होती हैं।

इस बात को तो सभी चिकित्सक और शोधकर्त्ता स्वीकार करते हैं कि विद्युत्-चुम्बकीय तरंग-क्रम का अमुक हिस्सा, जैसे कि 'एक्स' किरणें, सूक्ष्म तरंगें एवं पराबैंगनी किरणें, व्यक्ति के स्वास्थ्य पर उल्लेखनीय प्रभाव डालती हैं, किन्तु पूरे दृश्य प्रकाश के प्रभाव के विषय में उनमें मतभेद हैं। फिर भी अनेक प्रयोगों द्वारा यह स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हुए हैं कि प्रकाश हमारे अंत:स्रावी ग्रंथितंत्र एवं नाड़ीतंत्र को निश्चित रूप से प्रभावित करता है।

5.3.4 नाड़ी ग्रंथि तंत्र पर रंगों का प्रभाव

अमरीकन 'इन्स्टीट्यूट ऑफ बायो-सोशल रिसर्च' के निदेशक प्रो. एलेक्जांडर सोस की मान्यता है कि रंग की विद्युत-चुम्बकीय ऊर्जा किसी अज्ञात रूप में हमारी पिच्यूटरी और पिनियल ग्रंथियों एवं मस्तिष्क की गहराई में विद्यमान हाइपोथेलेमस को प्रभावित करती है। वैज्ञानिकों के अनुसार हमारे शरीर के ये अवयव अन्त:स्रावी ग्रंथि तंत्र का नियमन करते हैं, जो स्वयं शरीर के अनेक मूलभूत क्रियाकलापों और आक्रमण, भय आदि भावनात्मक प्रतिक्रियाओं का नियंत्रण करता है।

हेरोल्ड वोह्लफार्थ नामक प्रकाश-जीव-विज्ञान-शास्त्री (फोटोबायोलॉजिस्ट) और 'जर्मनी अकादमी ऑफ कलर साइन्स' के अध्यक्ष ने एक विद्यालय के बच्चों पर कुछ प्रयोग करने के पश्चात्, यह रिपोर्ट दी है कि दो अंधे बच्चों के रक्तचाप, नाड़ी की गति और श्वास की गति पर प्रकाश का वही प्रभाव देखा गया, जो कि अन्य सात सामान्य दृष्टि वाले बच्चों पर देखा गया था। 'बायो-सोशल रिसर्च' की एक पत्रिका में उपर्युक्त प्रयोग की जो रिपोर्ट छपी है, उसमें बताया गया कि जब विद्यालय के कमरों की दीवारों के रंगों को नारंगी और सफेद से बदलकर रोयल ब्लू और हल्का ब्लू कर दिया गया, सामान्य बत्तियों के स्थान पर इन्द्रधनुषी बत्तियों को लगा दिया तो बच्चों का प्रकुंचन (ऊपर का) रक्तचाप 120 से घटकर 100 तक आ गया। उनका व्यवहार पहले से अधिक अच्छा और अनुशासनबद्ध हुआ तथा उसकी एकाग्रता बढ़ गई। आगे श्री बोह्लफार्थ कहते हैं—प्रकाश से प्राप्त विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा की अल्पमात्राएं हमारे एक या एक से अधिक तंत्रिका संचारी (neuro-transmitter) को—जो एक तंत्रिका से दूसरी तंत्रिका तक या तंत्रिका से मांसपेशी तक संदेश पहुंचाने वाले रासायनिक संदेशवाहक हैं—प्रभाविक करती हैं। प्रयोग के द्वारा ऐसे प्रमाण भी उपलब्ध हुए हैं कि जो प्रकाश हमारी आंखों के दृष्टिपटल पर टकराता है, वह हमारी पीनियल ग्रंथि से निकलने वाले मेलाटोनिन नामक महत्त्वपूर्ण स्राव के संश्लेषण को प्रभावित करता है। यह मेलाटोनिन नामक हार्मोन एक अन्य सेरोटोनिन नामक तंत्रिका-संचारी के उत्पादन-मात्रा का निर्णय करने में सहायक होता है।

6.0 लेश्याध्यान : आध्यात्मिक दृष्टिकोण

लेश्या शब्द का अर्थ आणविक आभा, कांति, प्रभा या छाया है। छाया-पुद्गलों से प्रभावित होने वाले जीव परिणामों को भी लेश्या कहा गया है। प्राचीन साहित्य में शरीर के वर्ण, आणविक आभा, उससे प्रभावित होने वाले आत्म-परिणाम—इन तीनों अर्थों में लेश्या का उल्लेख मिलता है। शरीर, वर्ण और आणविक आभा को 'द्रव्य लेश्या' और आत्म-परिणाम को 'भाव लेश्या' कहा गया है।

आणविक आभा कर्मलेश्या का ही नामांतर है और कर्मों में छठा कर्म नाम कर्म है। उसका सम्बन्ध शरीर रचना संबंधी पुद्गलों से है। उसकी एक प्रकृति 'शरीर-नामकर्म' है। 'शरीर-नामकर्म' के पुद्गलों का ही एक वर्ग कर्मलेश्या कहलाता है।

लेश्या की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं, जैसे—1. योग-परिणाम, 2. कषायोदय रंजित योग-प्रवृत्ति, 3. कर्म-निष्पन्द, 4. कार्मण शरीर की भांति कार्मण वर्गणा-निष्पन्न कर्म-द्रव्य।

इन शास्त्रीय परिभाषाओं के अनुसार लेश्या से जीव और कर्म पुद्गलों का संबंध होता है, कर्म की स्थिति निष्पन्न होती है और कर्म का उदय होता है। इस प्रकार आत्मा की शुद्धि और अशुद्धि के साथ लेश्या जुड़ी हुई है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रभाववाद की दृष्टि से दोनों परम्पराएँ प्राप्त होती हैं—

1. पौद्गलिक लेश्या का आत्मिक परिणामों पर प्रभाव।
2. आत्म-परिणाम का लेश्या पर प्रभाव।

कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामोऽयमात्मनः।
स्फटिकस्यैव तंत्रायं लेश्या-शब्दः प्रवर्तते।।

इस प्रसिद्ध श्लोक की ध्वनि यही है—कृष्ण आदि लेश्या पुद्गल जैसे होते हैं, वैसी ही मानसिक परिणति होती है। आत्मिक परिणति होती है।

दूसरी धारा यह है—कषाय की मंदता से अध्यवसाय की शुद्धि होती है और अध्यवसाय की शुद्धि से लेश्या की शुद्धि होती है।

पांच आस्रवों में प्रवृत्त मनुष्य कृष्ण लेश्या में परिणत होता है। अर्थात् उसकी आणविक आभा (पर्यावरण) कृष्ण होती है। 'मनुस्मृति' में सत्त्व, रजस् और तमस् के जो लक्षण और कार्य बतलाए गए हैं, वे लेश्या के लक्षण से तुलनीय हैं।

6.1 लेश्या के क्रियाकलाप

यह लेश्या एक बहुत बड़ा कारखाना है। कषाय की तरंगें और कषाय की शुद्धि होने पर आने वाली चैतन्य तरंगें—इन सब तरंगों को भाव के सांचे में ढालना, भाव के रूप में इनका निर्माण करना और उन्हें विचार तक, वाणी तक, क्रिया तक पहुंचा देना, यह इसका काम है। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच में सम्पर्क-सूत्र का कार्य लेश्या करती है। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति के द्वारा, जो कुछ बाहर से आता है, वह कच्चा माल होता है। लेश्या उसे लेती है और उसे कषाय तक पहुंचा देती है, फिर भीतर से वह कच्चा माल पक्का बनकर आता है। जो कर्म भीतर जाता है, वह फिर विपाक होकर आता है। भीतरी स्राव, जो रसायन बनकर आता है, उसे लेश्या फिर अध्यवसाय से लेकर हमारे सारे स्थूल तंत्र तक अन्तःस्रावी ग्रंथियां और मस्तिष्क तक पहुंचा देती हैं इसलिए यदि हमारे स्थूल शरीर में लेश्या के प्रतिनिधि संस्थानों को खोजें, उनके बिक्री-संस्थानों को खोजें तो जितनी अंतःस्रावी ग्रंथियां हैं, ये सारी लेश्या की प्रतिनिधि संस्थाएँ हैं, बिक्री-संस्थान हैं। उनके सेल्स-मैनेजर वहां बैठे हैं। अच्छे ढंग से उनके माल की सप्लाई कर रहे हैं। अंतःस्रावी ग्रंथियों के जो स्राव हैं, वे कर्मों के स्राव से प्रभावित होकर निकलते हैं। कर्मों के स्राव भीतर से आते हैं और लेश्या के द्वारा ग्रंथियों में आकर, वे सारे व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। सारा व्यक्तित्व उनसे निर्मित होता है।

6.2 लेश्या-रंग का संस्थान

भीतर कषाय का तंत्र है। वहां जो कुछ भी जाता है, वह रंगीन हो जाता है। जो भी माल बाहर आता है, वह रंगीन आता है। हिंसा, असत्य, क्रोध, अहंकार, कपट आदि का आचरण करने वाला व्यक्ति बाहर से काले, नीले आदि मलिन रंगों के परमाणु आकर्षित करता है। लेश्यातंत्र उन्हें कषाय तक पहुंचाता है। जब विपाक होता है, तब कषाय से रंगीन होकर लेश्या के माध्यम से वे बाहर आते हैं और भिन्न-भिन्न अंतःस्रावी ग्रंथियों में आकर भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियों और वासनाओं को प्रकट करते हैं। इस प्रगकार सम्पर्क-सूत्र का सारा कार्य लेश्यातंत्र के हाथ में है।

जैसे रंग हम ग्रहण करते हैं, वैसे ही हमारे भाव, आचार ओर व्यवहार बन जाते हैं। स्फटिक के सामने जैसा रंग आता है, वह वैसा ही दिखने लग जाता है। स्फटिक का अपना कोई रंग नहीं होता। आत्मा के परिणामों का भी अपना कोई रंग नहीं होता। सामने जिस रंग के परमाणु आते हैं, परिणाम भी वैसे ही हो जाते हैं। ये परिणाम ही हमारी भाव लेश्या हैं।

6.3 द्रव्य लेश्या, भाव लेश्या

लेश्या दो प्रकार की है—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। द्रव्य लेश्या भौतिक (पौद्गलिक) है और भाव लेश्या चैतन्य का एक स्तर है। पुद्गल का लक्षण है—वर्ण, गंध, रस और स्पर्शयुक्त होना। द्रव्य लेश्या में भी ये चारों गुण पाए जाते हैं। भाव लेश्या अपौद्गलिक है इसलिए उसमें कोई वर्ण, रस, गंध, स्पर्श नहीं होते। कृष्ण लेश्या का वर्ण काला, नील लेश्या का नीला और कापोत लेश्या का वर्ण कबूतर या राख जैसा होता है। ये तीन अप्रशस्त लेश्याएं हैं। तेजोलेश्या का वर्ण लाल, पद्म लेश्या

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का पीला और शुक्ल लेश्या का सफेद होता है। ये तीन प्रशस्त लेश्याएँ हैं। तीनों अप्रशस्त लेश्याओं के गंध, रस और स्पर्श भी अमनोज्ञ तथा प्रशस्त लेश्याओं के गंध, रस और स्पर्श मनोज्ञ हैं।

इन चार गुणों में से रंग चित्त को सबसे अधिक प्रभावित करता है। हमारा सारा जीवनतंत्र रंगों के आधार पर चलता है। आज मनोवैज्ञानिकां और वैज्ञानिकों ने यह खोज की है कि व्यक्ति के अन्तर्मन को, अवचेतन मन को और मस्तिष्क को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला है—रंग। हमारे जीवन का ही नहीं, मृत्यु का सम्बन्ध भी रंग से है। हमारे पुनर्जन्म का संबंध भी रंग से है।

तीन अप्रशस्त लेश्याएं रूखी और ठंडी हैं। तीन प्रशस्त लेश्याएं चिकनी और गरम हैं। यह प्रशस्तता और अप्रशस्तता की व्याख्या संक्लेश और असंक्लेश के आधारपर की गई हैं, इसलिए सापेक्ष है। असंक्लेश का अर्थ है—विशुद्धि। संक्लेश का अर्थ है—अविशुद्धि। कृष्ण लेश्या की अपेखा नील लेश्या विशुद्ध है और नील लेश्या की अपेक्षा कापोत लेश्या विशुद्ध है। कृष्ण लेश्या संक्लेश का चरम बिन्दु है, नील लेश्या मध्य है और कापोत लेश्या न्यूनतम है। दूसरी ओर असंक्लेश की न्यूनतम अवस्था है तैजस् लेश्या, मध्य है पद्म लेश्या और उत्कृष्ट है शुक्ल लेश्या।

तीन अप्रशस्त लेश्याओं ने जिस व्यक्तित्व का निर्माण किया है, उसे विघटित करने के लिए प्रशस्त लेश्याएं सक्षम हैं। वे नया व्यक्तित्व उभार देती हैं।

6.4 वृत्तियों का उद्भव-स्थान

हमारी वृत्तियां, भाव या आदतें—इन सबको उत्पन्न करने वाला सशक्त तंत्र है—लेश्या-तंत्र। जब तक लेश्या तंत्र शुद्ध नहीं होता, तब तक आदतों में परिवर्तन नहीं हो सकता। लेश्या तंत्र को शुद्ध करना आवश्यक है। उसके शुद्ध करने की प्रक्रिया को समझने से पहले यह समझना जरूरी है कि अशुद्धि कहां जन्म लेती है और कहां प्रकट होती है? यदि हम उस तंत्र को ठीक समझ लेते हैं तो उसे शुद्ध करने की बात को समझने में बड़ी सुविधा हो जाती है।

बुरी आदतों को उत्पन्न करने वाली तीन लेश्याएँ हैं—कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या। क्रूरता, हत्या की भावना, कपट, असत्य बोलने की भावना, प्रवंचन धोखधड़ी, विषय की लोलुपता, प्रमाद, आलस्य आदि जितने दोष हैं, ये सब इन तीन लेश्याओं से उत्पन्न होते हैं। हमारे पास स्थूल शरीर में इन लेश्याओं के संवादी स्थान हैं जिनमें ये वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। अधि ावृक्क ग्रंथियां (एड्रीनल ग्लैण्ड्स) और काम-ग्रंथियां (गोनाड्स)—ये दो ग्रंथियां इन लेश्याओं के प्रतिनिधि या संवादी स्थान हैं। इन तीन लेश्याओं के भाव यहां जन्म लेते हैं।

हम वर्तमान विज्ञान की दृष्टि, योगशास्त्र की दृष्टि और लेश्या के सिद्धांत की दृष्टि—इन तीन दृष्टियों से इन पर विचार करें और इसकी तुलना करें। वर्तमान विज्ञान की दृष्टि के अनुसार काम-वासना का स्थान है—जनन-ग्रंथियां (गोनाड्स), वहां काम-वासना उत्पन्न होती है। अन्य वृत्तियों का स्थान है—अधिवृक्का ग्रंथियां (एड्रीनल ग्लैण्ड्स), वहां भय, आवेग, बुरे भाव जन्म लेते हैं। योगशास्त्र की भाषा में तीन चक्र हैं—स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपुर चक्र और अनाहत चक्र, जहां हमारी वृत्तियां जन्म लेती हैं। 'एड्रीनल और गोनाड्स' को योगशास्त्र की भाषा में स्वाधिष्ठान चक्र और मणिपुर चक्र कहा जाता है।

लेश्या सिद्धांत की दृष्टि से अविरति, क्षुद्रता, निर्दयता, नृशंसता, माया, निर्लज्जता, विषय-वासना, क्लेश, रस-लोलुपता—ये नील लेश्या के परिणमन हैं। वक्रता-वक्र आचरण, अपने दोषों को ढांकने की मनोवृत्ति, परिग्रह का भाव, मिथ्या दृष्टिकोण, दूरे के मर्म को भेदने की वृत्ति, अप्रिय कथन—ये कापोत लेश्या के परिणमन हैं।

विज्ञान की दृष्टि, योगशास्त्रीय दृष्टिकोण, लेश्या सिद्धांत की दृष्टि—इन तीनों की तुलनात्मक दृष्टि से लेश्या के सिद्धांत में जो तीन लेश्याएँ हैं, योगशास्त्र की दृष्टि में जो तीन चक्र हैं और विज्ञान कीदृष्टि में जो एड्रीनल और गोनाड्स ग्रंथियाँ हैं—इन सबका काम समान-सा है। लेश्या का सिद्धांत मानता है कि सारी आदतें तीन लेश्याओं में जन्म लेती हैं। योगशास्त्र मानता है कि सारी आदतें तीन चक्रों में जन्म लेती हैं और विज्ञान के अनुसार ये सारी आदतें दो ग्रंथियों में जन्म लेती हैं, अद्भुत समानता है तीनों प्रतिपादनों में। यह सत्य स्पष्ट हो गया है कि सारी बुरी वृत्तियां पेडू के पास वाले स्थान से लेकर नाभि के स्थान तक या हृदय के स्थान तक जन्म लेती हैं। इतना ही स्थान है इनका। इस सत्य को समझ लेने पर बदलने की भावना को समझने में बहुत सरलता हो जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.5 भावधारा, लेश्या और आभामंडल

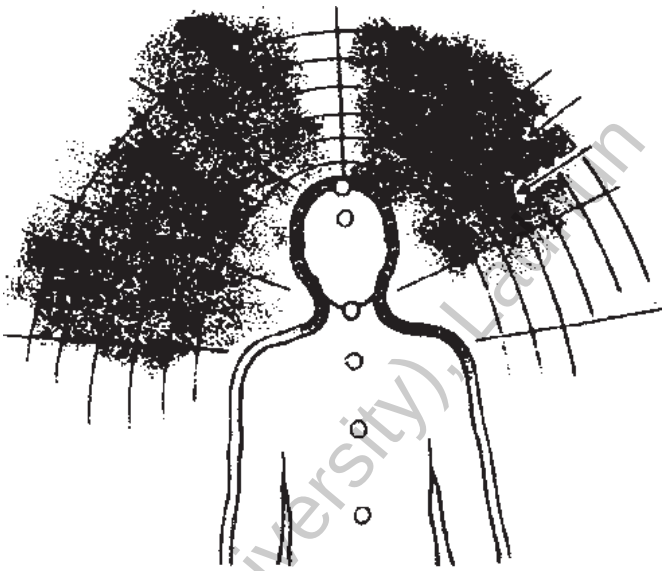

रुग्ण आभामण्डल

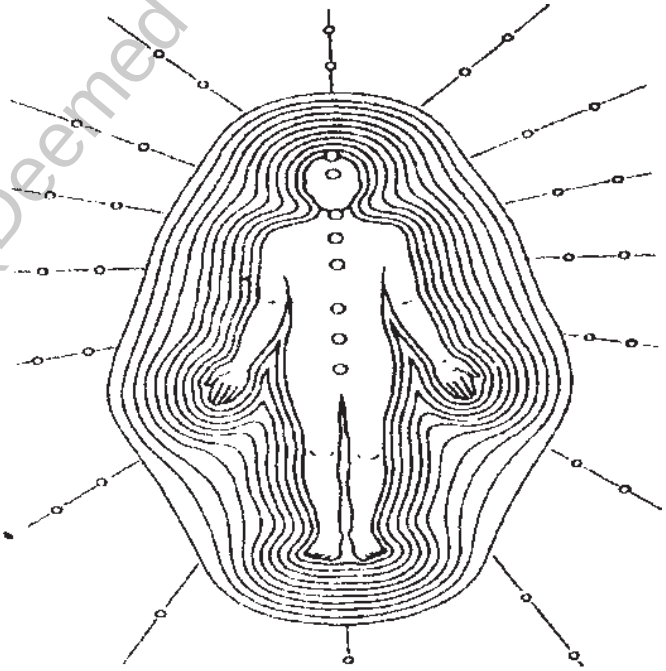

स्वस्थ आभामण्डल

प्राणी न शुद्ध अर्थ में आत्मा है और न शुद्ध अर्थ में जड़ पदार्थ है। वह एक यौगिक पदार्थ है। चैतन्य और पदार्थ का योग है। आत्मा का लक्षण है—चैतन्य। पदार्थ का लक्षण है—वर्ण, गंध, रस और स्पर्श। प्राणी का आभामण्डल दो प्रकार की ऊर्जाओं के संयुक्त विकिरण से बनता है—एक चैतन्य द्वारा प्राण-ऊर्जा का विकिरण और दूसरा भौतिक शरीर द्वारा विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा का विकिरण। प्राण-ऊर्जा के विकिरण का आधार है—व्यक्ति की भावधारा। भाव चैतसिक है और आभामण्डल पौद्गलिक (भौतिक) है, फिर भी भाव और आभामण्डल दोनों परस्पर प्रगाढ़ संबंध रखते हैं। आभामण्डल हमारी भावना का प्रतिनिधित्व करता है। इस दृष्टि से भाव के द्वारा आभामण्डल की और आभामण्डल के द्वारा भाव की व्याख्या की जा सकती है। आभामंडल किसी एक रंग का नहीं होता। उसमें अनेक रंगों का मिश्रण होता है क्योंकि उसका निर्माण लेश्याओं के आधार पर होता है। लेश्या के रंग व्यक्ति के भाव पर निर्भर रहते हैं। जिस व्यक्ति में जिन भावों की प्रधानता होती है, वैसे ही लेश्या के रंग हो जाते हैं। लेश्या में जितने रंग होते हैं, उतने ही रंग आभामण्डल में बिम्बित हो जाते हैं। अच्छे भाव दीप्तिमय होते हैं और बुरे भाव मलिन। आभामण्डल के चित्र लिए जाते हैं, उनमें जो रंग प्रतिबिम्बित होते हैं, उनके आधार पर क्षण-क्षण में बदलते हुए भाव भी पकड़ में आ सकते हैं। आभामण्डल के माध्यम से चेतना के परितर्वन जाने जा सकते हैं, शरीर और मन के स्तर पर घटित होने वाली घटनाएँ जानी जा सकती हैं। स्थूल शरीर की घटनाएँ पहले सूक्ष्म शरीर में घटित होती हैं। उनका प्रतिबिम्ब आभामण्डल पर अंकित होता है। इसके अध्ययन से भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का भी पता लगाया जा सकता है।

हमारा चित्त नाड़ी संस्थान में क्रियाशील रहता है और उसका सूक्ष्म केन्द्र है—मस्तिष्क। वह अन्तर्जगत में सूक्ष्म चेतना से जुड़ा हुआ है। वहीं से उसे गतिशीलता के आदेश-निर्देश प्राप्त होते रहते हैं और बाह्य-जगत में वह अपने प्रतिबिम्बभूत आभामण्डल से जुड़ा हुआ होता है। जैसा चित्त होता है वैसा आभामण्डल होता है और जैसा आभामण्डल होता है वैसा चित्त होता है। चित्त को देखकर आभामण्डल को जाना जा सकता है और आभामण्डल को देखकर चित्त को जाना जा सकता है। चित्त निर्मल तो आभामण्डल निर्मल और चित्त मलिन, तो आभामण्डल मलिन है।

हमारी भावधारा जैसी होती है उसी के अनुरूप मानसिक चिन्तन तथा शारीरिक मुद्राएं और इंगित तथा अंग-संचालन होता है। क्रोध की मुद्रा में रहने वाले व्यक्ति में क्रोध के अवतरण की संभावना बढ़ जाती है। क्षमा की मुद्रा में रहने वाले व्यक्ति के लिए क्षमा की चेतना में जाना सहज हो जाता है।सामान्य और स्वस्थ मनुष्यों के आभामण्डलों में आयु, लिंग या जाति की भिन्नता का कोई प्रभाव नहीं देखा जाता किन्तु योगियों-उच्च चरित्र वाले व्यक्तियों के आभामण्डल सामान्य व्यक्तियों से बिलकुल भिन्न पाए जाते हैं। उनमें दीप्ति अधिक होती है। आभामण्डल को देखकर व्यक्ति के चरित्र को जाना जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बोध-प्रश्न

1. व्यक्तित्व को कौन प्रभावित करता है?
2. लेश्या सिद्धान्त का प्रतिपादन किसने किया है?
3. आचार्य तुलसी के अनुसार लेश्या क्या है?
4. प्रकृति के रहस्य अधिकांशत: किस भाषा में अंकित हैं?
5. वृत्तियां, भाव और आदतों को उत्पन्न करने वाला सशक्त तंत्र कौन-सा है?

7.0 लेश्याध्यान की निष्पत्तियाँ

लेश्याध्यान की निष्पत्तियों को निम्न बिन्दुओं के द्वारा समझा जा सकता है—

7.1 आदतों में परिवर्तन

लेश्याध्यान के प्रयोग से आदतों में परिवर्तन होने लगता है। ऐसा रंगों के प्रभाव से होता है। तैजस् लेश्या का बाल-सूर्य जैसा लाल रंग है। लाल रंग निर्माण का रंग है। लाल रंग का तत्त्व है—अग्नि। हमारी सक्रियता, शक्ति, तेजस्विता, दीप्ति, प्रवृत्ति सबका स्रोत है—लाल रंग। लाल रंग हमारा स्वास्थ्य है। डॉक्टर सबसे पहले देखता है कि रक्त में श्वेत कण कितने हैं और लाल कण कितने हैं? लाल का कम होते हैं तो वह अस्वास्थ्य का द्योतक है। लाल रंग में यह क्षमता है कि वह व्यक्ति को बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् में ले जा सकता है। जब हम दर्शन केन्द्र पर बाल-सूर्य के अरुण रंग का ध्यान करते हैं और जब वह ध्यान सधता है, अरुण रंग प्रकट होता है, दीखने लग जाता है, तब इस लाल रंग के अनुभव से, तैजस् लेश्या के स्पन्दनों की अनुभूति से अन्तर्जगत की यात्रा प्रारम्भ होती है, आदतों में परिवर्तन आना प्रारम्भ हो जाता है।

7.2 अपूर्व आनन्द

जब तैजस् लेश्या के स्पंदन जागते हैं तब व्यक्ति को अनिर्वचनीय आनन्दानुभूति होती है। उस आनन्द का प्रत्यक्ष अनुभव करने वल ही उसे जान सकता है, वह उसे बता नहीं सकता। जिस व्यक्ति ने तेजोलेश्या का कभी प्रयोग नहीं किया, ध्यान नहीं किया, वह व्यक्ति इस स्थूल शरीर से परे भी कोई आनन्द होता है, इन विषयों से परे भी कोई सुखानुभूति होती है, नहीं समझ पाता, कल्पना भी नहीं कर पाता। जब तक वह प्रयोग से नहीं गुजरता, तब तक उसे ज्ञात हीनहीं होता कि ऐसा अनिर्वचनीय सुख भी हो सकता है। जो सुख का अनुभव होता है, वह अपूर्व होता है। व्यक्ति सोचता है—मैंने मान रखा था कि सुख तो पदार्थ से मिलता है किन्तु आज यह स्पष्ट अनुभव हो रहा है कि जैसा सुख तैजस् लेश्या के स्पन्दनों के जागने पर होता है, वैसा सुख जीवन में किसी भी पदार्थ से नहीं मिल सकता। भ्रांति टूट जाती है, धारणाएँ बदल जाती हैं।

वास्तविकता यह है कि पदार्थों में सुख है ही नहीं। हमारे भीतर एक विद्युत्धारा है। वह सुख का निमित्त बनती है। वैज्ञानिक प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि विद्युत् के प्रकम्पनों के बिना कोई सुख का संवेदन नहीं हो सकता। जो सुख इन्द्रिय-विषयों के उपभोग से उपलब्ध किया जाता है, वही सुख इन्द्रिय-विषयों के बिना कल्पना से भी किया जा सकता है। कान के बिन्दु पर या स्वाद के बिन्दु पर इलेक्ट्रोड लगाकर प्रकंपन पैदा किया जाए तो पदार्थ के बिना भी उनके उपभोग की-सी सुख-संवेदना का अनुभव होता है। वस्तु के संयोग से जो प्रतिक्रियाएं पैदा होती हैं, वे प्रतिक्रियाएं वस्तु के बिना भी विद्युत् के प्रकम्पनों से पैदा की जा सकती हैं इसलिए यह तथ्य प्रमाणित हो गया है कि सुख का संवेदन विद्युत-प्रकंपन सापेक्ष है। जब तैजस् लेश्या जागती है तब विद्युत् के प्रकम्पन बहुत बढ़ जाते हैं, तीव्रतम हो जाते हैं। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाले को अनुभव होता है। पीत-लेश्या से चित्त प्रशांत होता है, शांति बढ़ती है और आनन्द बढ़ता है। दर्शन की शक्ति पीले रंग से विकसित होती है। दर्शन का अर्थ है—साक्षात्कार, अनुभव। इससे तर्क की शक्ति नहीं बढ़ती, साक्षात्कार की शक्ति बढ़ती है, अनुभव की शक्ति का विकास होता है। पीले रंग की क्षमता है—मन को प्रसन्न करना, बुद्धि का विकास करना, दर्शन की शक्ति को बढ़ाना, मस्तिष्क और नाड़ी संस्था को सुदृढ़ करना, सक्रिय बनाना। यदि हम मस्तिष्क तथा चाक्षुष केन्द्र पर पीले रंग का ध्यान करते हैं तो ज्ञान तन्तु विकसित होते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

7.3 जितेन्द्रियता

जब हम चमकते हुए पीले रंग के परमाणुओं को आकर्षित करते हैं तो जितेन्द्रिय होने की स्थिति निर्मित हो जाती है। हम जितेन्द्रिय हो सकते हैं। पद्म लेश्या का अभ्यास करने वाला व्यक्ति जितेन्द्रिय हो जाता है। कृष्ण और नील लेश्या में रहने वाला व्यक्ति अजितेन्द्रिय होता है। ये दोनों प्रकार के परमाणु एक-दूसरे के विरोधी होते हैं। जब तक काले रंग के परमाणुओं का प्रभाव बना रहता है, तब तक हम जितेन्द्रिय नहीं हो सकते। जब पीले रंग के परमाणुओं से हमारा लेश्या तंत्र और आभामण्डल सक्रिय होता है, तब हमें जितेन्द्रिय होने की सुविधा मिल जाती है।

7.4 आत्म-साक्षात्कार

इन्द्रिय चेतना, मनः चेतना और चित्त की चेतना वाले शरीर में एक ऐसा तत्त्व भी है जो इन चेतनाओं से परे है। उसका साक्षात्कार हमें इष्ट है। आत्मसाक्षात्कार ही लेश्या ध्यान का लक्ष्य है जो शुक्ल लेश्या के ध्यान से प्राप्त होता है। इस बिन्दु पर पहुंचकर ही हम भौतिक और आध्यात्मिक जगत् के अन्तर को समझ सकते हैं। आत्म-साक्षात्कार की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है — निर्विकल्प चेतना का निर्माण। निर्विकल्प चेतना में जीने वाला व्यक्ति निव्यर्थ जीवन जीता है। उसकी चेतना में व्यथा नहीं होती। उसके सामने कितना ही प्रतिकूल वातावरण उपस्थित हो, भंयकर परिस्थितियां और समस्याएं हों, वह कभी व्यथित नहीं होता। वह घटना को जान लेता है, भोगता नहीं। वह केवल ज्ञाता रहता है, भोक्ता नहीं।

इस प्रकार लेश्याध्यान के प्रयोग से अनेक प्रकार के परिणामों को प्राप्त किया जा सकता है।

बोध प्रश्न

1. वस्तुनिष्ठ प्रश्न —

1. लेश्या का संबंध किससे है?
2. लेश्या का सिद्धान्त किसकी देन है?
3. अन्तर्दृष्टि का अर्थ क्या है?
4. लेश्या के कितने प्रकार हैं?
5. दर्शन का क्या अर्थ है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न —

1. लेश्यध्यान के प्रयोजन को स्पष्ट कीजिए।
2. लेश्याध्यान की निष्पत्तियाँ को बताइये।

3. निबंधात्मक प्रश्न —

1. लेश्याध्यान के वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप को बताइये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन विश्वभारती संस्थान

लाडनूँ- 341 306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्नातक (बी.ए.) प्रथम वर्ष

जीवन विज्ञान की प्रविधिः प्रेक्षाध्यान और योग

विषय - जीवन विज्ञान (द्वितीय पत्र)

कॉपीराइट :
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ

लेखक :
समणी सुमेधा प्रज्ञा

सम्पादक - :
मुनि धर्मेश कुमार
डॉ. हेमलता जोशी

संस्करण : 2014

मुद्रित प्रतियाँ : **500**

प्रकाशक :
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूं–341 306

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

vuØe

पृष्ठ संख्या

इकाई-1 (क) ;kx rFkk ikrUty ;kx d vx 01&11

- ० भारतीय योग : परिचय
- ० योग की शाखाएं
- ० पातंजल योग : अंग

इकाई-1 (ख) i{kk/;ku 12&21

- ० प्रेक्षाध्यान : परिचय
- ० प्रेक्षाध्यान के मूल स्रोत
- ० प्रेक्षाध्यान के अंग
- ० प्रेक्षाध्यान के आध्यात्मिक आधार
- ० प्रेक्षाध्यान की उपसंपदा

इकाई-2 (क) vklu 22&33

- ० आसन : एक परिचय
- ० आसनों का प्रयोजन
- ० आसनों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण
- ० आसनों का आध्यात्मिक दृष्टिकोण
- ० आसनों की निष्पत्तियां

इकाई-2 (ख) ik.kk;ke enk ,o /ofu 34&44

- ० प्राणायाम का परिचय
- ० प्राणायाम का प्रयोजन
- ० प्राणायाम का वैज्ञानिक दृष्टिकोण
- ० प्राणायाम का आध्यात्मिक दृष्टिकोण
- ० मुद्रा का स्वरुप एवं वैज्ञानिकता
- ० ध्वनि का स्वरुप एवं प्रक्रिया

इकाई-3 (क) dk;kRlx 45&55

- ० कायोत्सर्ग का प्रयोजन
- ० कायोत्सर्ग का वैज्ञानिक दृष्टिकोण
- ० कायोत्सर्ग का आध्यात्मिक दृष्टिकोण
- ० कायोत्सर्ग की निष्पत्तियां

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(ख) vUr;k=k 56&64
- ० अन्तर्यात्रा का प्रयोजन
- ० अन्तर्यात्रा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण
- ० अन्तर्यात्रा का आध्यात्मिक दृष्टिकोण
- ० अन्तर्यात्रा की निष्पत्तियां

bdkbZ & 4 (d) "okl&iz{kk 65&73
- ० श्वास प्रेक्षा का प्रयोजन
- ० श्वास प्रेक्षा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण
- ० श्वास प्रेक्षा का आध्यात्मिक दृष्टिकोण
- ० श्वास प्रेक्षा के प्रकार
- ० श्वास प्रेक्षा की निष्पत्तियां

इकाई-5 (ख) "kjhj&iz{kk 74&79
- ० शरीर प्रेक्षा का प्रयोजन
- ० शरीर प्रेक्षा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण
- ० शरीर प्रेक्षा का आध्यात्मिक दृष्टिकोण
- ० शरीर प्रेक्षा की निष्पत्तियां

bdkbZ & 5 (d) prU; dUnz iz{kk 80&86
- ० चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का प्रयोजन
- ० चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण
- ० चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का आध्यात्मिक दृष्टिकोण
- ० चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा की निष्पत्तियां

(ख) y';k/;ku 87&97
- ० लेश्या : एक परिचय
- ० लेश्याध्यान का प्रयोजन
- ० लेश्याध्यान का वैज्ञानिक दृष्टिकोण
- ० लेश्याध्यान का आध्यात्मिक दृष्टिकोण
- ० लेश्याध्यान की निष्पत्तियां

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun